रांगेय राघव

लखिमा की आंखें

कवि विद्यापति के जीवन पर आधारित रोचक उपन्यास



लखिमा की आँखें

लखिमा की आँखें

महाकवि विद्यापति के काव्यात्मक जीवन पर मौलिक उपन्यास

रांगेय राघव

राजपाल

ISBN: 9788170287544

LAKHIMA KI AANKHEN (Novel) by Rangey Raghav

राजपाल एण्ड सन्ज़
1590, मदरसा रोड, कश्मीरी गेट-दिल्ली-110006
फोनः 011-23869812, 23865483, फैक्सः 011-23867791
e-mail: sales@rajpublishing.com
www.rajpublishing.com
www.facebook.com/rajpalandsons

भूमिका

'मैथिल कोकिल' नाम से विख्यात पूर्वी भारत के कवि विद्यापति ठाकुर सम्भवतः भारत के अकेले कवि हैं जिनकी ठेठ देसी भाषा मैथिली में लिखी कविता अपने लालित्य, माधुर्य और गेयता के कारण उनकी अपनी भाषा के अतिरिक्त बंगला और हिन्दी में भी अपार लोकप्रिय रही है। वे संस्कृत के विद्वान् थे और इस भाषा में भी उन्होंने अनेक रचनाएं कीं, परंतु लोकप्रियता उन्हें तभी प्राप्त हुई जब उन्होंने मैथिली में रचना आरंभ की। उनके गीत कृष्ण की भक्ति में लिखे गये और इन गीतों का अकेला संकलन 'पदावली' के नाम से प्रसिद्ध है। इस कारण उन्हें 'अभिनव जयदेव' के नाम से भी जाना गया-जो विद्यापति से तीन सौ वर्ष पूर्व बंगाल में हुए थे और लालित्यपूर्ण गीतों की परम्परा का जिन्होंने 'गीत गोविन्द' के माध्यम से श्रीगणेश किया।

महाकवि जयदेव ने गाया था-

ललित लवंग लता परिशीलन
कोमल मलय समीरे

और विद्यापति ने इसी परम्परा में कहा-

सरस वसंत समय मल पाओल
दखिन पवन बह धीरे

महाकवि विद्यापति पंद्रहवीं शताब्दी में मिथिला के ग्राम बिसिपी में हुए थे। इनके संबंध में विशेष जानकारी उपलब्ध नहीं है परंतु माना जाता है ये महापंडित और मिथिला नरेश के राजकवि थे। उनकी रानी लखिमा भी कवि की बहुत प्रशंसक थीं। अनुमान है कि विद्यापति ने लम्बी आयु पाई थी और उन्हें कई राजाओं का संरक्षण प्राप्त हुआ। राजा नरसिंह देव की आज्ञा से उन्होंने संस्कृत में 'विभागसार' ग्रंथ लिखा जिसमें संपत्ति के विभागों और अधिकारों का वर्णन है। 'दान वाक्यावली' में दान की महिमा तथा विधि पर प्रकाश डाला गया है। 'गया पत्तलक' में गया में किये जानेवाले श्राद्ध की महत्ता तथा विधि बतलाई गई है। 'दुर्गाभक्तितरंगिणी' और

'शैव सर्वस्वसार' में इन देवों की महत्ता तथा उपासना पद्धति बताई गई है। 'वर्ष कृत्य' में वर्ष में मनाये जानेवाले पर्वों की कथाएं तथा विधियाँ दी गई हैं। 'पुराण संग्रह' में प्रमुख पुराणों का सार समेटा गया है।

इसी प्रकार अवहट्ट भाषा में महाराज कीर्ति सिंह के युद्ध और विजयों, राज्याभिषेक आदि घटनाओं का वर्णन 'कीर्तिलता' और 'कीर्तिपताका' पुस्तकों में किया गया है।

विद्यापति का युग भारत में हिन्दू समाज के लिए कठिन परीक्षा का समय था। तुर्क और मुगल सेनाएं हिन्दू धर्म तथा मंदिरों का नाश कर रही थीं और आम जनता को जबरदस्ती मुसलमान बना रही थीं। ऐसी स्थिति में तीव्र भक्तिपरक नृत्य-गायन से पूर्ण ईश्वर की उपासना ही उन्हें अपने धर्म से जुड़े रहने की शक्ति देती थी। यवनों से लड़ना आम जनता के लिए संभव नहीं था इसलिए वे आक्रमणों के समय गाते-बजाते रहते थे, और उनकी तलवारों से कटकर गिरते भी चले जाते थे। इस कारण ईरान तथा मध्य एशिया के अनेक देशों के समान भारत पूरी तरह मुसलमान कभी नहीं बना, यह इतिहास का महत्त्वपूर्ण तथ्य है। समय आने पर वह फिर अपने पैरों पर धीरे-धीरे उठकर खड़ा हो गया।

ऐतिहासिक तथ्य यह भी बताया जाता है कि कविवर विद्यापति स्वयं भी मुगल सेना के बन्दी बनकर दिल्ली में रहे थे। रांगेय राघव ने बड़ी कुशलता से तत्कालीन राजनीति और समाज में विद्यापति को स्थापित किया है जो रोमांचक होने के साथ साथ बोधक भी है।

महाकवि विद्यापति पर बहुत कम लिखा गया है। ऐसी स्थिति में यह उपन्यास एक महत्त्वपूर्ण योगदान कहा जायेगा।

अनुक्रम

लखिमा की आँखें

गीत का चुम्बक

मैं कब से कहना चाह रहा हूँ किन्तु कह नहीं पाया, न जाने क्यों ऐसा लगता है कि जो कुछ मैं अपने शब्दों में बाँध देना चाहता हूँ, वह वास्तव में भावनाओं की बात है। हो सकता है कुछ लोग यही अनुभव करें कि मनुष्य को जीवन में कुछ न कुछ सहारा अवश्य चाहिए और उसी की खोज में मैंने अपने लिए एक बहाना बना लिया है, क्योंकि वैसे देखा जाए तो दुनियादारी के शब्दों में मेरे कोई गिरस्ती नहीं है। यों ही मैं घूमता-फिरता हूँ। आप कहेंगे कि ऐसा क्यों है? मैं वैसे जाति का ब्राह्मण हूँ। नवद्वीप में मैंने शिक्षा प्राप्त की और फिर वहाँ से मैं काशी गया जहाँ शालाओं में लड़के संस्कृत रटा करते हैं और वहाँ के तोते भी उनकी बोली सीख जाते हैं। काशी के पथों पर मैंने न जाने कितनी बार महात्माओं के दर्शन किए, परन्तु वहाँ कुछ भी नहीं हुआ। हुआ भी तो लौटती बार जब एक बौद्ध परिवार से मुलाकात हुई। वह परिवार उत्कलवासी था और घर लौट रहा था। हम सब साथ ही चले। उस परिवार के लोग सहजयानी थे, किन्तु मुसलमानों के आतंक के कारण बौद्ध सदा ही अपने को छिपाते हैं। मुसलमान कहते हैं कि ब्राह्मण भी अच्छा, बुतपरस्त है तो क्या हुआ, कम से कम अल्लाह को तो मानता है, लेकिन यह बौद्ध तो कमबख्त ऐसे काफिर हैं कि खुदा को ही नहीं मानते।

यों ही हम लोगों ने थककर एक जंगल के किनारे पड़ाव डाला। मेरा उड़िया सहजयानी मित्र तो बैठ गया। वह एक मोटा आदमी था और अवहइ बोलना भी जानता था। वह बड़ा पढ़ा-लिखा आदमी था। मैं उसके समीप ही लेट गया। थककर सो गया था। उसकी पत्नी और युवती पुत्री ने भोजन का प्रबन्ध प्रारम्भ किया। गाड़ीवान अब बैलों को खोलने लगे। वे अपनी पछांही बोली बोलते हुए न जाने क्या कहते थे कि उनकी बोली मैं तो समझ लेता किन्तु उड़िया बन्धु नहीं समझ पाते थे। वैसे मैंने हिंगलाज[1]

से आने वाले नाथ जोगियों से सुन रखा था कि पश्चिम से पूर्व में कामरूप तक बोलियों में थोड़ा-थोड़ा ही अन्तर था।

साँझ अब गहरी होने लगी थी। किराए पर लाई गई ये गाड़ियाँ हाँकने वाले अब अपनी रोटी पकाने लग गए थे।

कैसा बियाबान जंगल था। अभी हम लोगों को बैठे देर नहीं हुई थी कि पूर्व की ओर कुछ कोलाहल सुनाई देने लगा। घने वृक्षों की छायाएँ अब उतरते अन्धकार में लुप्त हो गई थीं। ऐसा लगा था जैसे सारी हरीतिमा एक विशाल श्याम सघन छाया बनकर हवा पर सरसराती हुई हिल रही थी। गाड़ीवानों के पत्थरों के टुकड़ों को बीनकर बनाए चूल्हों में अग्नि की लपटें प्रदीप्तवर्ण-सी काँप रही थीं और उनके हल्के प्रकाश में उन काले और साँवले शरीर के सुदृढ़ गाड़ीवानों के चेहरों पर उभर आई आशंका दिखाई देने लगी थी।

उड़िया यात्री ने अपने भारी स्वर को धीमा बनाने की चेष्टा की, जिससे वह स्वर भर्रा-सा गया। उसने कहा, "उधर यह शोर हो रहा है न?"

मैंने कुछ नहीं कहा।

यात्री ने अपनी पत्नी की ओर देखा जो अब सहमी हुई-सी निकट आ गई थी। उसके पीछे ही उसकी युवती पुत्री थी, जिसके मुख पर आतंक-सा छा गया था। वह निस्तब्ध थी। सामने की जलती आग उसके चेहरे पर अपनी झाँई मार रही थी और मैंने देखा कि उसके स्थिर और बुझे हुए चेहरे में भी जीवन की चिन्गियों की तरह उसकी दोनों आँखें अनागत से टक्कर लेने की स्पर्धा भरकर चमक रही थीं।

"न हो तो," मैंने फुसफुसाकर कहा, "कहीं अगर डाकू ही हों, तो मैं और आप सामान के साथ यहीं रह जाएँ और इन दोनों सस्त्रियों को आप कुछ मूल्यवान वस्तुओं के साथ अपना एक नौकर करके जंगल के किसी भाग में चले जाने को कहें। डाकू निकल जाएँगे तब हम लोग इन्हें ढूँढ़ लेंगे और चल पड़ेंगे।"

उड़िया यात्री ने गम्भीरता से सुना। उसके कानों में हीरे थे और हाथों में सोने के कड़े।

उसकी स्त्री ने कहा, "नहीं," उसकी आवाज बहुत ही धीमी थी। उसने फुसफुसाते हुए कहा, "हम नहीं जाएँगी। साथ में रहकर ही मर जाना अच्छा होगा। मेरे पास कटार है। इसी से लड़की को मारकर मर जाऊँगी।

जानते नहीं? ये गाड़ीवान डाकुओं से मिले होते हैं। इधर हम छिपने जाएँ तो जैसे इन गाड़ीवानों को पता भी नहीं चलेगा।?"

"जो हो," यात्री ने उठकर अपनी तलवार उठाकर कहा, "देखा जाएगा।"

उसे उठता देखकर गाड़ीवानों का बूढ़ा सरदार पास आ गया और उसने कहा, "स्वामी! डाकू आए लगते हैं।"

"पर डाकू वहाँ क्यों शोर करते हैं?" यात्री ने पूछा।

"इसीलिए कि वहाँ कोई यात्री दीखते हैं।"

इस समय कोलाहल कुछ कम हो गया था।

मैं विचित्र विचारों में खो गया।

क्या सचमुच आज ही जीवन का अन्त हो जाएगा?

मैं सुदूर बंगवासी। मैंने वेदों का 12 वर्ष अध्ययन किया, कौन नहीं जानता कि मैं कितना पण्डित हूँ। आज यात्रा की सहायता प्राप्त करते हुए अचानक इस सहजयानी से आ मिला हूँ। वैसे यह सहजयानी अब हैं ही कहाँ? थोड़े-बहुत उड़ीसा में ही होंगे! बाकी हमारे बंग में तो अब बाउल ही बाउल दिखाई देते हैं। वयोवृद्ध कमलेश्वर कहता था कि जब वह बालक था तब तुर्कों ने बौद्धों और सहजयानियों का घोर वध किया था। तुर्कों ने जब इनके विहारों में अपार सम्पत्ति देखी थी तब जी भरकर लूटा था। उस समय तक ब्राह्मण-विद्वेषी बौद्धों ने तुर्कों और मुसलमानों को निमन्त्रण दे-देकर बंग में बुलाया था, किन्तु बाद में जब उल्टी मार लगी तो सब भूल गए। अधिकांश तो धड़ाधड़ मुसलमान ही बन गए। अनीश्वरवादी इन मुण्डियों को म्लेच्छ होने में ही क्या विलंब हुआ।

मैं अभी इन्हीं विचारों में खोया रह जाता, किन्तु तभी मैं चौंक पड़ा। कोलाहल, मैंने अब अनुभव किया, शान्त हो चुका था। यात्री ने कहा "सुनो देवता! आओ कुछ भोजन करें।"

सदैव ही मैं यात्रा में खान-पान को कुछ सीमा तक ढीला कर देता रहा हूँ और सदैव ही मैंने इसका अनन्तर प्रायश्चित्त कर लिया है। मैंने भी सोचा कि बात आई-गई हुई, अब भोजन कर लेना ही उचित है। अभी हम लोग खाने बैठे ही थे कि मुझे फिर एक रुदन-ध्वनि सुनाई दी। मैं अपने को रोक नहीं सका, तुरन्त उठा और आवाज़ की तरफ चल दिया।

अँधेरे में मुझे अधिक दूर नहीं जाना पड़ा। कुछ लोग मिले, जो एक लाश को लिए हुए थे। यह मैंने पेड़ों की आड़ में, उगते चन्द्रमा की, पत्तों में से छन-छनकर आती हल्की चाँदनी में देखा।

"कौन हो तुम लोग?" मैंने कठोर स्वर में पूछा।

मेरा प्रश्न हवा में जैसे गूँज गया। स्वयं मुझे भी अपने स्वर की कठोरता का आभास हुआ। परन्तु यह केवल साहस की भावना के अत्यधिक उत्तेजित हो जाने के कारण ही हुआ था।

उन लोगों में से कोई नहीं बोला। स्पष्ट ही वे शूद्र थे, यह मुझसे छिपा नहीं रहा। अब मुझे यह भी याद आया कि अचानक ही भोजन छोड़कर उठ आया था। मेरे उड़िया साथी और बाकी लोगों ने मेरे इस कार्य को देखकर क्या विस्मय नहीं किया होगा? यात्रा भी कैसी विपदा है, किन्तु भाग्य का चक्र है कि मनुष्य को करनी ही पड़ती है। जगह-जगह कितने डाकू उत्पन्न हो गए हैं! मैंने केवल पढ़ा था कि इसी भारत की पुण्य भूमि में ऐसे-ऐसे चक्रवर्ती राजा हुए थे जिनके राज्य में गाय और सिंह एक ही तपोवन में विचरण किया करते थे। तब ब्राह्मणों का तेज ही ऐसा था कि उनकी हुंकारों से ही सब कुछ भस्म हो जाया करता था। कलि के आ जाने से क्या से क्या हो गया। कैसी अधोगति हो गई। तरह-तरह के नास्तिक धर्म फैल गए और अनाचार का बोलबाला हो गया। अब तो शूद्र जगह-जगह सिर उठाने लगे। क्या हो गया यह? और आगे क्या होने वाला है? पाप की भी कोई सीमा होती है। यवनों के आक्रमण से तो पवित्र अवतारों की भूमि में केवल विनाश ही विनाश छा गया है। इनके बर्बर अत्याचारों की याद से ही रोम-रोम जलने लगता है। तभी मैंने देखा वे कुछ फुसफुसा रहे थे।

सामने वे बारह व्यक्ति थे, एक लाश थी और मैं अकेला था।

मैंने फिर कहा, "कौन लोग हो?"

"हम..हम कोरी हैं..."

"शान्त?" मैंने धीरे से कहा। "तुमने ही इसे मारा है? कौन है, यह?" मैंने अपना स्वर उठाकर पूछा।

वे कुछ नहीं बोले।

मैंने फिर कहा, "तो तुम इसे यहाँ चुपचाप खोदकर गाड़ देने आए हो। लुटेरे हो? डाकू!"

पता नहीं शायद मेरे स्वर में घृणा की तिक्तता उभर आई थी कि एक बूढ़ा आगे आया। उस समय मेरे मुख पर चाँदनी पड़ रही थी। उसने अपने पुराने स्वर में कहा, "हम डाकू हैं? और हमारे पास एक भी हथियार नहीं? हमने हत्या की है और हम सब घायल हैं? तुम कौन हो?"

विक्षोभ जैसे पुंजीभूत हो चुका था और अब धीरे से पिघलना शुरू हुआ था।

मैंने पूछा, "तो फिर यह क्या है?"

"जाने दो यात्री!" बूढ़े ने कहा, "जाने दो। तुम सुनकर भी क्या करोगे? यह कोई आज की कथा नहीं। और फिर तुम भी तो ब्राह्मण देवता ही जान पड़ते हो। पूछकर भी क्या समझोगे?" वह ऐसे रुक गया जैसे न जाने क्या-क्या कह देना चाहता था, किन्तु फिर भी कह नहीं रहा था, जैसे वह मन्त्रों से अवरुद्ध हो गया-सा कोई सांप था।

मैंने अनुभव किया कि मेरा मन कहीं गीला-गीला-सा हो गया था। मैंने कहा, "सुनो! भयानक रात है। चारों ओर हवा सनसना रही है। न हो तो इधर आओ। हमारा यात्रियों का दल पड़ा है। उधर ही चलो।"

मेरी बात सुनकर वे आपस में एक-दूसरे की ओर देखने लगे तब एक फूट-फूटकर रोने लगा। उसको रोता देख सब विमूढ़-से हो गए।

मैंने कहा, "क्या बात है?"

बूढ़े ने कहा, "इसका भाई है यह। जब इसका बाप मरा था तब उसने इस बालक को इसी की गोद में छोड़कर कहा था, "कपालि! इसे अपना पुत्र ही जानना।" तब से उसने डोम्बि को अपना ही पुत्र समझकर पाला। आज डोम्बि भरी जवानी में मारा गया। अब इसे इस निर्जन वन में कैसे छोड़ जाएँ हम। इसे अगर वन-पशुओं ने खा लिया तो?"

सचमुच, मनुष्य के व्यर्थ के भय की बलिहारी! मरे से भी उसे इतनी ममता होती है! अरे वह तो मिट्टी हो गया! उसे कोई भी खा ले अब। उसका क्या है? किन्तु यह मैं क्या सोच गया हूँ? यह तो अनर्थ है! मरने के बाद उसकी गति ही जब तक उचित नहीं होगी तब तक वह कर्मों का फलाफल भोगेगा कैसे? वह तो प्रेत बनकर घूमता फिरेगा?

उस समय मुझे कुछ चक्कर-सा आ गया किन्तु कपालि का रुदन बड़ा करुण था। ऐसा लगता था जैसे डोम्बि का प्रेत भूखा-प्यासा वन में हहरता हुआ भटक रहा था और बार-बार आकर अपने पार्थिव शरीर पर मंडरा जाता था।

"इसे जलाना होगा।" मैंने बहुत ही संयत स्वर से कहा।

"कैसे?" कपालि ने कहा। और फिर वह रो पड़ा।

मैं नहीं समझा।

मैंने कहा, "इतने बड़े वन में क्या लकड़ी नहीं मिलेगी?"

मेरी बात सुनकर उस बूढ़े ने कहा, "लेकिन...फिर उजाला होगा और वे देख लेंगे...वे देख लेंगे और फिर...और फिर...हम सबको ही मरना होगा...तब ...तब...हमें कौन जलाएगा...तब तो हमारी लाशों को सियार और गिद्ध ही खाएँगे..."

उस बीभत्स स्वीकृत को सुनकर मेरे रोंगटे खड़े हो गए। जब मौत सिर पर मंडरा रही हो, तब मनुष्य कितना यथार्थवादी हो जाता है, उससे कुछ भी छिपा नहीं रहता। उस समय अपने स्वार्थ की अतिसीमा में बंधा हुआ मनुष्य भी अपने को उतनी ही दूरी से देखता है, जितनी से वह किसी पराए को देखता है। मौत असल में परख ही नहीं करती, सिखाती भी है। मैं कहता हूँ कि अगर दुनिया में मौत न हो तो आदमी के घमण्ड का कोई अन्त ही न मिले।

"कौन मारेगा तुम्हें?" मैंने पूछा।

"वे ही...वे ही..." कपालि नहीं कह सका। फिर रोने लगा। यही आदमी अभी अपने हाथों से पाले हुए लड़के-अपने भाई-के किसी के हाथों से निर्दयतापूर्वक मारे जाने पर रो रहा था। उसका रुदन तो विवशता थी क्योंकि उसकी हत्या का बदला न लेकर वह भाग आया था, परन्तु साथ में उसकी मिट्टी भी उठा लाया था। और अब वह उसे किनारे लगाना चाहता था, क्योंकि उसके संस्कार और विश्वास उसे ऐसा करने को विवश कर रहे थे। तथापि अब उसे अपनी मौत का डर और भी बढ़ गया था। अब वह भाई की मौत से भी अधिक अपनी मौत के डर से रो रहा था। कहते हैं मरों को जीवितों से प्यार नहीं होता। लेकिन जीवन का कोई एक क्षण ऐसा भी आता है जब जीवित और मृत के बीच रेखा खींचना कठिन हो जाता है। ऐसे ही समय में मनुष्य अपने विवेक से भी परिचालित होता है, और अपने ममत्व से भी। किन अन्तरालों में जाकर यह भावनाएँ समवेत होकर अन्तरात्मा की निगूढ़ कुज्झटिका में विलीन हो जाती हैं, यह कोई नहीं बता सकता। अनन्त विस्फार-सी इस व्यापक सत्ता को सदैव मैंने परमशिव का आनन्द माना है, और वेद के निर्घोष में ही मेरे अस्तित्व का संघर्ष अपनी सार्थकता मानता आया है, किन्तु यहाँ मुझे लगने लगता है कि कहीं कोई ऐसी एक रेखा शेष है जो हमारे पथ को हठात् ही काट जाया करती है और सम्भवतः हम अपने ही अन्ध-विश्वासों के आसरे होकर अपने ही आदर्शों के भौंकते कुत्तों से बचने के लिए छिपते-फिरते हैं।

मैंने कहा, "कौन हैं लोग?"

वृद्ध ने कहा, "प्रभु..."

आतंक फिर लरजने लगा।

मैंने आश्वासन देते हुए कहा, "भोलानाथ सबका दुख दूर करते हैं। बताते क्यों नहीं?"

तब उसने बताया-"वे कोरी हैं और नहीं जानते कि वे देवी के उपासक क्यों हैं! सम्भवतः इसीलिए हैं जैसे भारत में कोई भी जाति सनातन से अपने-अपने देवताओं की उपासना करती चली आ रही है। उनके पूर्वजों ने देवी के सामने रतजगा करके गीत गाए थे, वे भी गाते हैं। आज भी गा रहे थे; किन्तु उससे ब्राह्मण क्रुद्ध हैं, क्योंकि वे उनको वेद-विद्वेषी मानते हैं, क्योंकि वे शाक्तों को गाँव में रहने की आज्ञा नहीं देना चाहते। यह संघर्ष तीन पीढ़ियों से चला आ रहा है। पता नहीं, वे कोरियों को शूद्र क्यों कहते हैं। कोरी कोई बुरा काम नहीं करते; वे कपड़ा कातते-बुनते हैं। फिर भी उनका छुआ पानी गन्दा हो जाता है। कोई नहीं जानता कि यह झगड़ा कब समाप्त होगा। आज वे पानी भरने के लिए अपने कुएँ पर गए। चमारों के पास कुआँ नहीं है, क्योंकि उन्हें अधिकार नहीं, वे उसी हौज़ में से पानी ले जाती हैं जिसमें से बैलों को पानी पिलाया जाता है, लेकिन कोरियों ने अपना कुआँ बना लिया है, और उसके बनाते समय छह कोरी जान से मारे गए थे। कपालि का पिता उसी में मारा गया था। आज उसी कुएँ में किसी ठाकुर ने विष डाल दिया था, क्योंकि वह उन्हें गाँव से भगाना चाहता था। सारे सवर्ण एक ओर थे। गाँव की सीमा पर बसे तेली को पता चल गया था। वह नाथों का चेला मुसलमान जोगी है। उसको मार डाला उन्होंने और अब वे हमें भी निकाल रहे हैं। उसी झगड़े में डोम्बि मारा गया है। इस नगले की औरतें इधर-उधर भाग गईं। कुछ सहजयानी आए हैं बंग से, वे जाने क्या प्रचार करते फिर रहे हैं!"

मैंने सुना। फिर कहा, "आह रे धर्म! सच ही कलियुग में तेरा चौथा चरण भी नष्ट ही हो जाएगा। क्यों तुम लोग मर्यादा का उल्लंघन करते हो। ईश्वर ने तुम्हें कर्मानुसार जब किसी जाति-विशेष में जन्म दिया है, तब ईर्ष्या के कारण क्यों विद्रोह करते हो। स्वधर्म का पालन क्यों नहीं करते? किसलिए सारे नियमों को तोड़कर अनाचार और अनैतिक उच्छृंखलता फैलाना चाहते हो?"

फिर मैंने कहा, "दिल्ली के सुलतान तो यहाँ से एक बार स्वयं निकल चुके हैं न?"

"हाँ, प्रभु!" वृद्ध ने कहा, "किन्तु हमारा कोई अपराध नहीं है। हम तो गरीब लोग हैं। ब्राह्मणों से हमारा विरोध नहीं। हम तो अपने प्रजापालक ठाकुरों की ही शरण को सदा से अपना आश्रय स्थल समझते आ रहे हैं। हमारे राजपूतों ने सुलतान के कर वसूलने वालों को मार डाला था। जब खबर पहुँची तो सुलतान ने फौज भेजी। हमारे कुछ कोरी जो बौद्ध थे वे सुलतान की फौज में पहुँच गए और ठाकुरों के नाम बता आए। ठाकुर पकड़े गए। फिर भी सुलतान के लोगों ने हम गरीबों को खूब चूसा। वे चले गए तो बचे हुए ठाकुरों ने हमसे बदला लिया।"

मैं निस्तब्ध खड़ा रहा।

इसी समय मेरे कन्धे पर किसी ने हाथ रखा।

मुड़कर देखता हूँ। मेरा सहजयानी साथी।

उसने कहा, "क्या कर रहे हो भाई? खाना भी छोड़ आए। मैं कहूँ क्या हुआ? ये लोग कौन हैं?"

मैंने सारी बात बताई।

सुनते ही वह तो घबरा गया।

उसने कहा, "हाय! मैं तो मारा गया। अब ये लोग यदि जान जाएँगे तो हमें क्या छोड़ देंगे? इनसे तो तुर्क ही हमें बचा सकते हैं।"

वह भाग चला।

मैं तो देखता ही रह गया।

मैं जब सजग हुआ तो मुझे अपनी पड़ी। अब मैं क्या करूँगा? हठात् मुझे एक भय लगने लगा। ये लोग जो मेरे सामने हैं, मैं इनका ही क्या विश्वास करूँ, यदि आवेश में आकर इन्हीं ने मेरी हत्या करने की चेष्टा की तो मैं अपनी रक्षा कैसे कर सकूँगा?

सच कहता हूँ, प्रत्येक वस्तु के अन्त को शाश्वत माननेवाला मैं भी थर्रा गया। आज बहुत दिन बाद सोचता हूँ कि यह तो 'अहं' है, सम्भवतः यह वस्तु के किसी भी रूप की इकाई की भावना है। जिस प्रकार यह अपनी रक्षा करने की चेष्टा करती है, सम्भवतः उसी सिद्धान्त पर यायावर ब्रह्माण्ड भी अपने को बचाता है, क्योंकि मैं ब्रह्माण्ड का एक अंश हूँ, उससे अलग करके नहीं देखा जा सकता। काठ जो इतनी कठिनाई से कटता है, वह भी वस्तु का स्वरक्षा के लिए संघर्ष है और पत्थर जो बहुत ही कड़ा बन जाता है, वह उसका अपना प्रयत्न है।

अभी मैं यह सब निर्णय भी नहीं कर पाया था कि वन में जलती मशालें चलती हुई दिखाई देने लगीं। उनको देखकर मुझे लगा कि वहाँ ब्रह्मराक्षसों का कोई निवास था, तभी वे उल्काएँ जगमगा रही थीं। यह भी संभव हो कि वे कापालिक हों जो नरबलि ढूँढ़ने निकले हों। मैं तो हतचेत-सा देखता रह गया। केवल इतनी ही सतर्कता मुझमें शेष थी कि वे कोरी क्या कर रहे हैं, यह देखता रहूँ।

"अरे बाप रे!" एक ने कहा, "वें हमें वन में ढूँढ़ने आ रहे हैं।"

बस सुनने की देर थी कि बारहों आदमी लाश को वहीं छोड़कर, जिसको जिधर सूझा, उधर ही भाग निकले। मैं अकेला रह गया, क्योंकि मेरा साथी एक शव ही था, जिसे लहू ने भिगो दिया था, किन्तु वह न मेरी तरह हिलता-डुलता था, न साँस ही लेता था। उसके लिए तो सब कुछ खतम हो चुका था। उसे कोई भय नहीं था। वह मिट्टी हो चुका था। आज सोचता हूँ कि क्या मिट्टी नहीं डरती? इसका उत्तर मैं क्या दूँगा, जो मिट्टी होकर भी अपने मिट्टीपन के ऊपर हावी बनने का दावा किया करता हूँ। किन्तु उस समय मुझे डर लगने लगा।

अब मशालों की ज्योति निकट आने लगी थी और साथ ही घोड़ों की टापें भी सुनाई देने लगी थीं। कौन होंगे!

डाकू!

केवल एक और बार शब्द मेरे कानों में बजा, 'डाकू!'

उसके उपरान्त मुझे उस ओर से घोर कोलाहल सुनाई दिया, जिधर मेरे उड़ीसा के साथी का डेरा था। फिर बर्बर अट्ठहास गूँजा, फिर चीत्कार और फिर कोलाहल, मार-मार...

मैं न जाने क्यों स्तम्भित-सा वहीं खड़ा रहा। अंगचेष्टाएँ कहीं चली गई थीं।

जब वह कोलाहल हाहाकार में बदल रहा था, एक बहुत ही तीखी आवाज़ सुनाई दी...बचाओ...बचाओ...

बिजली-सी कौंध गई मेरे सामने। यह तो मेरे उड़िया सहयात्री की युवती पुत्री का स्वर था। न जाने कैसे मैं उधर ही भाग चला जिधर से स्वर आया था...

अँधेरा यहाँ बहुत घना था।

घूम-फिरकर भी मुझे कुछ नहीं मिला।

उस समय मैं विक्षुब्ध-सा हो उठा था।

मैं फिर वृक्षों की ओट में मशालों के उजाले की ओर चलने लगा। वहाँ आकर देखा कि घोड़ों पर तुर्क थे और चारों ओर विनाश और शवों का अखण्ड ताण्डव था।

एक व्यक्ति ने तुर्की में कुछ कहा।

मैं नहीं समझा।

तभी तीन तुर्क जो लम्बे-चौड़े थे, एक तुर्क का शव उठा लाए।

तुर्क ने फिर पूछा।

एक ने पीछे मुड़कर कुछ कहा।

तीन तुर्क फिर बढ़े। उन्होंने उसी युवती पुत्री को पकड़ रखा था। एक ने उसके हाथ से रक्त से भीगी हुई कटार छीनकर सरदार को दिखाई और मृत व्यक्ति की ओर इशारा किया। मैं समझ गया, अवश्य इसी वीर स्त्री ने इसकी हत्या की है। सरदार ने फिर कुछ कहा।

तब दो आगे बढ़े। स्त्री के वस्त्रा कुछ फट गए थे। अनेकों शवों में वही जीवित खड़ी थी और मैं पेड़ों की आड़ से अँधेरे में छिपा हुआ सब देख रहा था। तुर्कों की तलवारें रक्त से भीगी हुई मशालों के प्रकाश में चमक रही थीं। वे सिर पर लोहे के शिरस्त्राण पहने हुए थे। उनकी चाल में अकड़ थी। वे बड़े गर्वीले थे। स्त्री के बाल बिखर गए थे और आँखों में एक बड़ा अजीब-सा जंगली आनन्द था। उसकी पुतलियाँ उसके सफेद कोयों के बीचोबीच दिखाई दे रही थीं।

मैंने देखा, एक तुर्क ने आगे बढ़कर स्त्री के वक्ष का वस्त्रा फाड़ डाला और एक भयानक चीत्कार गूँज उठा। उसने स्त्री के दोनों स्तन काट दिए। रक्त के पनाले बह निकले। स्त्री मूर्च्छित होकर गिर पड़ी। एक बर्बर अट्टहास प्रतिध्वनित हुआ।

सरदार मुड़ा।

उसने फिर कुछ कहा।

तब तीन-चार तुर्क लूट का सामान ला-लाकर उसके सामने धरने लगे। बैल, गाड़ी और...और...

मैं देखता रहा।

कुछ देर बाद वे सब चले गए। उनके घोड़ों की टापों की आवाज़ को जब अँधेरे की जीभ ने निगलकर आकाश और पृथ्वी जैसे अपने होंठों को चाट लिया, मैं बाहर आया। अब चाँद डूब चला था। केवल शव पड़े थे। सच

कहता हूँ, मैंने किसी को नहीं छुआ। मेरे कानों में अपने सहयात्री के अन्तिम शब्द गूँज रहे थे: इनसे तो तुर्क ही हमें बचाएँगे!

यों ही तो बचाया था उन्हें तुर्कों ने!

अपने धर्म के लिए कैसे सारा भारत बलिदान हो रहा था, मैंने देखा। आगे पाँव रखा। कुछ चिपकता-सा पाँवों में लगा। पाँव पीछे खींच लिया। देखा-स्त्री का कटा हुआ स्तन-मांस था। यही था न वह मांसपिण्ड जिसमें से ममता दूध बनकर उतरती! वह तो धरती पर पड़ा था! वह तो अब गीदड़ का भोजन बनेगा।

तभी पीछे की ओर एक सुरसुराहट-सी सुनाई दी। मुड़कर देखा-वह कोई सियार ही था। फिर वह मुँह ऊपर करके चिल्लाया। और तब वन में हुआ, हुआ की आवाज़ें उठने लगीं। दूसरों के बने-बनाए शरीर को खाने वाले एक पशु ने अपने जैसे अन्य पशुओं को निमन्त्राण दिया था, और उसे उन मित्रों ने प्रत्युत्तर भी दिया था, जो साथ ही खाने को लपलपा रहे थे। कैसी संघशक्ति थी! तो यह बर्बरों में होती ही है! और किनमें 'नहीं' होती? जो मुर्दे हो चुकते हैं। यह शव पड़ा है, अगर इसकी आंतें निकालकर एक सियार धीरे-धीरे चबाकर खाएगा, तब भी बगल में पड़ा शव कुछ नहीं कहेगा, जिसकी कि एक आँख में चोंच डालकर अभी-अभी कोई गिद्ध पुतली कुतर-कुतरकर खा चुका होगा।

आज बहुत दिनों बाद सोचता हूँ कि मुझे भय क्यों नहीं हुआ। उस समय हठात् मुझे एक ही बात याद आई थी कि क्या एक दिन इसी प्रकार रानी पद्मिनी के जौहर की भस्म देखकर भी उसका राज-पुरोहित मेरी ही भांति देखते हुए खड़ा नहीं रह गया होगा।

तब मैंने सोचा! शूद्र को ब्राह्मण मारता है, बौद्ध अपना राज्य चाहता है। वह तुर्क को ब्राह्मण के विरुद्ध बुलाता है। और ब्राह्मण स्वदेश के इन शुत्राओं से भी लड़ता है और विदेशी लुटेरों से भी। और इस सबका परिणाम क्या होता है सब पिसते हैं, तुर्क जीतते हैं। कहते हैं पहले समय में पृथ्वीराज चैहान ने युद्ध किया था किन्तु उसे भी विश्वासघातियों ने हरवा दिया। राजा गण्ड भी विश्वासघात के कारण ही सोमनाथ के लुटेरे गज़नवी के हाथों मारा गया था। मुझे आश्चर्य हुआ। और उस समय उस मुर्दों से ढकी धरती, उस लुटी हुई धरती, उस धरती पर जिस पर एक युवती स्त्री के स्तन-प्रदेश से निकल-निकलकर अभी तक रक्त रिस रहा था, मुझे न जाने क्यों एक विचित्र-सी भावना हुई। यह क्या थी मैं नहीं जानता! निश्चय

ही वह एकमात्रा प्रतिहिंसा की भावना नहीं थी। निश्चय ही वह लुटेरों के प्रति जुगुप्सा नहीं थी। वह भी तो एक बात हो सकती थी-वह केवल आत्म-घृणा थी और उसके मूल में विवशता नहीं थी, अज्ञान के प्रति विक्षोभ था।

और तब शवों के बीच में खड़े होकर, संसार को सदैव असार कहकर बुरा कहने वाले मैंने, पहली बार यह अनुभव किया कि जीवन को बचाना चाहिए। परमार्थ में स्वयं समय भी इस विचार पर सम्भवतः हंस दिया था। जीवन! कैसा जीवन! यह रहा जीवन का अन्त। धूलि में पड़ा है। कितनी आशंका थी यहाँ इन लोगों को। और क्या जानते थे कि यह सब इतना पास है? मुझे महाभारत की युधिष्ठिर-यक्ष सम्वाद की बात याद आई-कि संसार में सबसे बड़ा आश्चर्य यही है कि प्राणी नित्य प्राणी को मरते देखता है, फिर भी वह यह नहीं सोचता कि उसे भी मरना है।

हाँ, हाँ, मुझे भी मरना है। किन्तु मन ने कहा था कि मरना जितना बड़ा सत्य है, उतना ही बड़ा सत्य जीना भी तो है। क्यों मान लिया जाए कि मृत्यु की अवधि जीवन की अपेक्षा बड़ी है।

उस समय मैं कितना दार्शनिक हो गया था! क्यों? क्योंकि न तो मेरा कोई स्वजन मरा था, न मुझमें इतनी शक्ति ही थी कि किसी का बदला ले सकूँ। इसलिए मुझे अपनी वेदना को छिपाने और आत्म-रक्षा करने के लिए इस दर्शन की आवश्यकता थी और सम्भवतः इसीलिए वह प्रकट भी हुई थी। किन्तु मैं आज भी उसे श्रेयस्कर मानता हूँ जो विनाश में अपना तर्क नहीं खोता, और विनाश को एक आकर निकल जाने वाली विपत्ति मात्र समझता है, जीवन को उससे भी ऊँचा समझता है, वही तो मनुष्य है। व्यक्ति की सत्ता की अवधि छोटी होती है। जिसका सत्य उस अवधि को ही सत्य मात्र नहीं मानता, वह क्या कभी मर सकता है? अलौकिक की वासना, ऐहिक के त्याग से भी तो ऊँची है। परोक्ष की आशा, प्रत्यक्ष की प्राप्ति से कहीं अधिक उदात्त है। चमड़े से मंढ़े हुए माँस में ही जब मनुष्य अपनी सत्ता को समाप्त नहीं मानता, तब उसका तेजस ही उसका रक्षक बन जाता है।

और तब मुझे लगा मैं हारा नहीं था। कहते हैं अनेक बार तुर्कों ने आक्रमण किए और इस भारत को नष्ट कर देना चाहा किन्तु यह नष्ट नहीं हुआ। तो क्यों आखिर! मैं अभी तक इस सबके मूल में यही मानता हूँ कि हमारा परमेश्वर सदैव ही एक बहुत बड़ा परमेश्वर रहा है, जो तुर्कों के परमेश्वर से बड़ा है और मनुष्य के रूप में हम कितने भी छोटे क्यों न हों,

व्यवहार में हम कितने भी दुर्बल क्यों न रहे हों, किन्तु हम न छोटे हैं, न दुर्बल, क्योंकि हमारा परमेश्वर तो बड़ा और सबल रहा है। मनुष्य संसार में अपनी आस्था के अनुसार ही होता है। हमारी आस्था हमारे जीवन के यथार्थ से भी बड़ी है। हमारी आस्था समस्त सृष्टि से मानव-हृदय के तादात्म्य का बिम्ब है और वह मनुष्य के रक्त-मांस में सीमित नहीं रहती, वह पीढ़ी-दर-पीढ़ी चेतना में ज्योति बनकर उतरती है। इसलिए लौकिक-कर्दम पर ही हमारा विश्वास-कमल खिल रहा है। यह सब ऊँच-नीच, क्षुद्रता-महानता, घृणा और प्रेम, दरिद्र-धनी का भेद हमारे अविवेक हैं, जिन्हें संसार के क्षेत्रा में प्रयोगात्मक माना गया है, जिसमें दैहिक सुख-दुःख हैं, किन्तु इनसे अधिक शक्तिशाली यह आस्था है, जिसका मूल केवल मानवीयता है और जो प्रयोग के परे हैं, क्योंकि वहाँ मानव की पराजय कभी कुण्ठा में अपनी इति नहीं करती, वह वहाँ व्यापक अनुभूतियों का सृजन करती है और अपनी सारी अपूर्णता को अपने अस्तित्व की क्षुद्रता की अभावात्मक स्वीकृति में अपने लिए एक बन्धन के रूप में खड़ा नहीं करती, वरन् सहृदयता का आश्रय लेकर प्रारम्भ सृष्टि से अन्त प्रलय तक व्यापक रूप में अपने को ही एक महान के रूप में प्रस्तुत करती है!

निस्तब्धता और घनी हो गई थी। अब कराहें नहीं थीं, अब सियारों के लाशों को फफेड़ने का शब्द सुनाई देता था और कुछ नहीं।

तब मैं चल पड़ा। पता नहीं कितनी दूर चला, कितनी बार कांटे लगे, किन्तु मैं विनाश में से बचा था और झपाटवी में चल रहा था। कुछ दूर और चलने पर मुझे एक हल्की-सी गीत की आवाज़ सुनाई दी। मैं चकित रह गया। धीरे-धीरे आगे बढ़ते हुए मुझे शब्द स्पष्ट सुनाई देने लगे और ज्यों-ज्यों वे मुझे सुनाई देते गए मेरी आत्मा का अंधकार एक अतीन्द्रिय आलोक से भरता चला गया।

कोई मीठे स्वर से गा रहा था:

तातल सैकत वारि-बिंदु सम
सुत-मित-रमनि-समाज.....
तोहे बिसारि मन ताहे समरपिउ
अब महुँ हय कोन काज
तोहे बिसारि मन.....

क्या सुन रहा था मैं?

जिस प्रकार तप्त बालू पर जल की बूँद पड़ते ही विलीन हो जाती है, उसी प्रकार इस संसार में पुत्र, मित्रऔर स्त्री हैं, तुझे भूलकर मैंने अपने को इनके हाथों में समर्पित कर दिया है...अब मुझसे क्या कार्य हो सकेगा?

वही बात! संसार के स्वार्थ ही सब कुछ नहीं हैं। इनके परे एक व्यापक सत्य की आवश्यकता है, क्योंकि इनमें अपने मैं का अन्त नहीं होता।

गायक स्वर में नई चेतना आई:

माधव! हम परिनाम निरासा...
तुहुँ जगतारन दीन दयामय
एतय तोहर बिसवासा...
माधव! हम परि...

हे माधव, मुझे तो इस सबसे परिणाम में निराशा ही हुई। इससे लोक का क्या कल्याण हुआ? कुछ नहीं। तू तो जग को तारने वाला है, दीन के ऊपर दया करने वाला है, तू तो आर्त्तों का सम्बल है...इस अरक्षित काल में और कौन है...अतः एक तेरा ही विश्वास है...वह कौन है... वह माधव है......

अहं की वेदना के ऊपर यह कैसा उजागर विश्वास है? गायक ने फिर गाया :

आध जनम हम नींद गमावल
जरा सिसु कत दिन गेला
निधुवन रमनि-रभस रँग मातल
तोहे भजब कोन बेला.....
आध जनम हम...

सचमुच! आधा जीवन तो मैंने नींद में गंवा दिया, और बाकी बुढ़ापे, बचपन में निकल गया। जो सबसे श्रेष्ठ समय था तब मैं रमणियों के साथ मधुवन में क्रीड़ा-रत रहा...तुझे मैं भजता भी तो कब...

क्या लाभ हुआ यों अकारथ जीवन बिताते हुए। एक से दूसरे को प्रीत कराने वाली शक्ति का तो मैंने विचार ही नहीं किया...अपने सुख में डूबा रहा...मुझे मेरा ही अज्ञान घेरे रहा...मैं जानता हूँ कि यह देह सदैव नहीं रहेगी। किन्तु मैं उसको ही शाश्वत समझ बैठा...आज मुझे लगने लगा है कि जो खेल मैंने खेला वह मेरे एक ही दांव पर मुझे हार देकर जाने वाला है...

और गायक का स्वर अब हौर निकट आ गया है:

कत चतुरानन मरि मरि जाओत

न तुअ आदि अवसाना
तोहे जनम पुनि तोहे समाओत
सागर लहिर समाना
कत चतुरानन...

और देखो न? कितने ब्रह्मा मर-मर के नष्ट हो जाते हैं, किन्तु तेरा आदि और अवसान नहीं मिलता। अभी मैं मुर्दों से ढकी हुई पृथ्वी पर से आ रहा हूँ। तो यही अन्त नहीं है? अभी जो युद्ध हुआ वह अन्त नहीं है। तीन सौ बरसों से जो विनाश हो रहा है वह भी कुछ नहीं है? नहीं है, नहीं है। यह तो एक ब्रह्मा का युग है। युग नहीं पल। नहीं, पल से भी छोटा। ब्रह्मा! सृष्टि करता है। वह रचता है। वही एक दिन सबका प्रारम्भ करता है, और वह भी अन्त में नष्ट हो जाता है, वह नहीं रहता...नहीं रहता...उसकी विशाल सत्ता भी अल्प है। उससे भी बड़ा समय है, समय से बड़ा कौन है...वह जो दीनबन्धु है...माधव है... जगतारन है... पानी के बुलबुले की तरह बह्म्रा आते हैं विनष्ट हो जाते हैं... पच-पचकर हार जाते हैं, किन्तु अन्त नहीं पाते...तो मनुष्य इतने बड़े सत्य का अनुभव कर सकता है, कि स्वयं उसका विधाता, एक विधाता नहीं, अनेक-अनेक विधाता भी, उसके सत्य की वास्तविकता को नहीं जान सकते...उसके न आदि को जानते हैं...न उसके अन्त को ही पहचानते हैं...यह तो सागर है, यह तो सागर की लहर है...लहर सागर से उठती है, उसी में विलीन हो जाती है...जिसमें से जन्म लेती है, उसमें उसका अवसान हो जाता है...तो हम हारे नहीं हैं...वह तो लहरें हैं, आती हैं...जाती हैं...अक्षय शक्ति का अमर स्रोत है यह...

मैं विभोर होने लगा। गायक का स्वर तब और भी स्पष्ट सुनाई दिया :

भनइ विद्यापति सेष सयन मय
तुअ बिन गति नहिं आरा
आदि अनादिक नाथ कहा ओहि
अब तारन भार तोहारा...
तारन भार तोहारा......
तारन.....

विद्यापति कहता है कि हे शेषशायी! तेरे बिना मेरी गति और नहीं है, तू आदि अनादिक नाथ कहाता है तो मुझे तारने का भार फिर तुझ पर ही हो...

मैं रुक गया। देखा एक मशाल जल रही थी। एक वृद्ध पास बैठा गा रहा था। सिर के बाल लम्बे और सफेद थे, दाढ़ी-मूँछें सफेद थीं। छोटा-सा आदमी था। पास में कई लोग थे...स्त्री भी...पुरुष भी-पूरा यात्री दल था...बैल...गाड़ी...कुछ घोड़े...और सब सो रहे थे...वही गा रहा था... निर्द्वन्द्व...इसे प्राणों का भय नहीं...

मैं उसके पास जाकर बैठ गया। मुझे इस प्रकार बैठते हुए लगा मैं माधव के पास आ गया हूँ। इस समय मुझे रुलाई-सी आने लगी। अब जबकि संवेदना को प्रकट होने का अवसर मिला, मुझे अपने को कातर बना देने में एक आत्मिक सुख मिलने लगा...मैं अपने को दुखी कहकर दूसरों की सहानुभूति पाकर मनुष्यत्व के उदात्त रूप को जैसे देखकर लोकान्त-कारिणी करुणा की महत्ता का अनुभव करने का इच्छुक हो उठा था...

"रोओ नहीं," वृद्ध ने गीत समाप्त करके कहा, "क्यों रोते हो? छिः-छिः, कृष्ण के लोक में कैसे रुदन? चारों ओर आनन्द ही तो है?"

क्षण-भर अवाक् रहकर मैंने उसकी ओर देखा।

फिर कहा, 'आनन्द! कहाँ है आनन्द! चारों ओर हाहाकार मच रहा है...चारों ओर विनाश छा रहा है...मुसलमान लूट रहे हैं...बौद्ध छल कर रहे हैं... "

"नहीं, माधव!" वृद्ध ने कहा, "मुसलमान कहाँ लूटते हैं, तृष्णा लूटती है, अहंकार लूटता है, बौद्ध छल कहाँ करते हैं, स्वार्थ करता है...विष्णु ने तो स्वयं बुद्ध का अवतार ग्रहण किया था..."

वृद्ध ने गाया-

केशव धृत बुद्ध शरीर...

मैं उसे देखता रह गया।

मैंने गला साफ करके कहा, "वहाँ, वहाँ लाशें कटी पड़ी हैं...तुर्कों ने स्त्री के स्तन काट दिए..."

मैं विक्षोभ से व्याकुल हो गया, कुछ कह नहीं सका।

वृद्ध ने कहा, "माँ ने धरती को रक्त से भिगोया है? एक दिन पूतना नामक स्त्री ने विष-लेप करके माधव के मुख में दिया था न? आज उसका प्रायश्चित्त हो गया, आज उस पाप का भी परिष्कार हो गया भैया..."

मैं कुछ नहीं कह सका।

हवा अब ठंडी चलने लगी थी। दूर कहीं वन के सुगन्धित फूलों पर से झूमती वायु अपने साथ सुरभि उड़ाए लिए चली आ रही थी। मुझे भूख लग

रही थी। कहते हैं न लोग कि गांधारी को अपने सौ बेटों की लाशों के बीच खड़ी होकर भूख लगी थी सो उसने पुत्रों के शवों के ढेर पर खड़े होकर पेड़ में लटका आम तोड़ने की चेष्टा करने में हाथ नीचे रह जाने पर कहा था कि एक मुर्दा यानी एक बेटा और होता तो मैं इस फल तक पहुँच गई होती, वैसे ही मुझे भी भूख लगी। देह-पूजा का लोलुप असुर मेरे भीतर जाग उठा।

परन्तु मैं न जाने क्यों इतना थक गया था, इतना निर्जीव हो गया था मैं कि कुछ भी न कहने का मन होता था, न करने का। मानो मैं प्रलय के बाद बचा हुआ एक निरीह कीड़ा था, जो अब भी चुपचाप पड़ा हुआ ईश्वर को अपने जीवित रह जाने के लिए धन्यवाद दे रहा था।

किन्तु क्या था मेरे जीवन का मोल! वृद्ध अब भी कभी-कभी कोई पंक्ति गा उठता था और सब भूल-सा जाता था।

मैं नहीं जानता कब मैं वहीं पड़ा हुआ सो गया और भयानक स्वप्नों को देख-देखकर डरता रहा।

जब मेरी आँख खुली तब मैंने देखा सब लोग जाग उठे थे। वे लोग समवेत स्वर से गा रहे थे। यह क्या? यह लोग भयभीत नहीं हैं? इन्हें न तुर्कों का डर है, न किसी का!

मैं उठकर बैठ गया। गीत बड़ा लुभावना था। मैं सुनता रहा-वे गाते रहे-

हे माधव! मैं अत्यन्त विनीत बारम्बार तुम्हारे सामने प्रार्थना करता हूँ और विनती करता हूँ कि तुम मुझे अपने चरणों से अलग न कर देना।

हे माधव! मैं तुलसीदल और तिल चामरी से पूजन करके अपनी देह तुम पर समर्पित करता हूँ, तुम मुझे कहीं अपने चरणों से पृथक् न कर देना।

हे माधव! यदि तुम मेरे पाप-पुण्यों के लेखे का ध्यान करोगे तब तो मुझमें करोड़ो दोष और छिद्र दिखाई देंगे और गुणों का तो आभास तक भी नहीं मिलेगा।

हे माधव! तुम तो जगन्नाथ कहाते हो और जगत के परे तो शून्य ही शून्य है...

हे माधव! यदि अपने कर्मानुसार मुझे अगले जन्म में भी मनुष्य-शरीर प्राप्त हो या मैं पशु-पक्षी होकर जनम लूँ या मुझे कीट-पतंगों की ही योनि ग्रहण करनी पड़े या अपने कर्म-विन्यास से मुझे बारम्बार जन्म लेना पड़े...तब भी मेरी यही एक प्रार्थना है कि तुम मुझे ऐसा वरदान दो, ऐसा

वरदान दो कि मेरी मति सदैव ही तुम्हारे चरणों में ही लीन रहे और तुम्हारी ओर ही मेरा ध्यान बना रहे!

अपने कर्मफल से अत्यन्त कातर और भयभीत कवि विद्यापति कहता है कि हे माधव! कृपा करके मुझे इस भवसागर से पार कर दो।

हे दीनबन्धु! चरणकमलों का आश्रय लेकर मैं इस भवसागर को तरण कर जाना चाहता हूँ।

गीत चलता रहा और काम होते रहे, मानो गीत के लिए जीवन नहीं था, जीवन के लिए गीत था...

अब मैंने पहचाना। यह तो गौरांग महाप्रभु चैतन्य के शिष्य थे और वृन्दावन जा रहे थे।

गीत की अन्तिम हिलोर अब भी वायु में काँप रही थी...

सिर मुंड़ाए वृद्धाएँ और तरुणियाँ, तरुण और वृद्ध, बालक और बालिकाएँ...सब जैसे एक गीत ही तो थे वे...

अपनी कथा को संक्षिप्त करके कहूँ कि मैं भी उनके साथ चल पड़ा।

वृद्ध वैष्णव ने मुझसे कहा, "वत्स! उठो। निराश न हो। मधुसूदन कभी रोते हुए भक्तों को नहीं चाहते। आओ चलें... "

शताब्दियों से जो वृन्दा नाम से विख्यात एक वन पड़ा था, वहाँ जाकर गौरांग महाप्रभु ने कृष्ण की बाललीला के स्मारक के रूप में एक नगर बसाया था, जो अब वृन्दावन कहलाने लगा था। वह कोटि-कोटि गौरांग-शिष्यों का एक पुण्य तीर्थ था।

और तब मस्त होकर वे कीर्तन करने लगे...

राधे गोविन्द हरि...

हरि बोल...हरि बोल...

अनन्त विस्मय में डूबा रह गया मैं, कि वे सब विभोर होकर नाचते-गाते चले जा रहे थे और जब वे एक ग्राम में से निकले, घोड़ों पर सवार तुर्कों ने उन्हें रोक दिया। किन्तु वहाँ सुनता कौन था! वे तो नाच रहे थे, गा रहे थे। तुर्कों के स्वर गरजने लगे, उन्होंने एक कीर्तनिया को पकड़कर खींच लिया...परन्तु वह गाता ही रहा...तुर्कों की नमाज़ में व्याघात पड़ा था, अतः वे इस कुफ्र को रोकने आए थे...उन्हीं की प्रजा और यह हिम्मत...किन्तु वे नहीं रुके...उन्होंने पकड़े हुए व्यक्ति को मार डाला... किन्तु बाकी गाते रहे, चलते रहे...धीर पग रखते, नाचते...जैसे कुछ नहीं हुआ निर्द्वन्द्व...निर्भीक...

मैंने हिन्दुओं की भीड़ को चुपचाप उस अत्याचार को देखते हुए पाया और मैं न जाने कैसे चिल्ला उठा, "कायर! धिक्कार है तुम्हें..."

जिस व्यक्ति को तुर्कों ने मारा था, वह एक शूद्र था...अपराजित था वह...

अचानक ही भीड़ हिल उठी और तब मैंने तुर्कों को भागते देखा...

मधुसूदन...जनार्दन...वासुदेव जाग गए थे...

किन्तु कीर्तनिया फिर भी गा रहे थे...झूम रहे थे...नाच रहे थे...वे न जाने किस अतीन्द्रिय तन्मयता में डूबे हुए थे, उनके लिए रूप और कुरूप के क्षुद्र बंधन नहीं थे, न धनी-दरिद्र के कुटिल भेद ही जीवित थे, वे तो इन सबके पार थे...

राधे गोविन्द राधे...

राधे गोविन्द हरि...

और फिर हरि बोल...

धीरे-धीरे सारी भीड़ गाने लगी। मैंने भय के कुहरजाल को फटते देखा...इस भीड़ में सब जातियाँ थीं...नीच भी...ऊँच भी...

किन्तु यहाँ सब निर्भय थे...

निर्भीक थे सब...

निर्द्वन्द्व-से लग रहे थे वे...

घुटे हुए गलों से सुरीला किन्तु प्रचण्ड शब्द निकल रहा था...

अपराजित संस्कृति पुकार रही थी...

कोई भी दमन इसे कुचल नहीं सकता था...

और तब मैं भी गाने लगा...

राधे गोविन्द राधे...
राधे गोविन्द राधे...
हरि बोल...
हरि बोल...

और फिर...

फैलता स्वर, लरजती मिठास, झूमती तन्मयता और अपराजेय निर्भीक चेतना। वही झंकार, वही आरोह, वही अवरोह...और तब एक वंशी-निनाद... अन्तरात्माओं के मोतियों को बींध-सा जाता हुआ डोरा था वह, रोम-रोम में भीतर-भीतर जो रम गया...

भीड़ गाती रही और फिर मुझे याद नहीं रहा कि कब तक हम गाते रहे...कितनी देर तक वह निर्भीक एकता का स्वर भारतभूमि पर गूंजता रहा...

वह वैष्णव स्वर था...दूसरों की वेदना को जानने वाला, ज्ञान की सारी सीढ़ियों के परे भक्ति का..

राधे गोविन्द राधे...

राधे गोविन्द हरि...

और फिर...

हरि बोल...

महाप्रभु गौरांग के शिष्यों में मुसलमान भी थे और भक्ति के क्षेत्र में हिन्दू-मुसलमान का प्रश्न ही नहीं था। ईश्वर सबके लिए एक था। हिन्दू हो या मुसलमान, सबके लिए परमात्मा एक था। सब मनुष्य तो एक-से थे। किन्तु यह 'हरिबोल' दरिद्रों का सहायक था, नीच जातियों का उद्धारक था, ब्राह्मणों की अहम्मन्यता को प्रेम का पाठ था, यह तो इस्लाम की आड़ में पलने वाली अरबी और ईरानी संस्कृति को भारतीय संस्कृति की मानवीयता की चुनौती थी, मानो भारत की आत्मा अपने ऊपर से विदेशी जूए को उठाकर फेंक देना चाहती थी। और मैंने गाँव-गाँव में उस विद्रोही स्वर को फैलते देखा। बंगवासियों की एकांतिक असहिष्णु अहम्मन्यता इस एक स्वर से खण्डित होती चली जा रही थी। मुझे जीवन का एक नया स्वप्न दिखाई दे रहा था।

ग्राम-ग्राम में किसान मिलते जिन्हें तुर्कों के जज़िया (कर) ने कुचल रखा था। जज़िया इस्लाम की आड़ में विदेशी शासकों द्वारा भारतीय मेहनतकश को लूटने का साधन था। भारतीय दस्तकारी कुचली पड़ी थी। ठौर-ठौर पर जो पीर, ख्वाजा और काज़ी धर्म की आड़ में अहंकार करके राजनैतिक दल बसाए थे, वे सब इस 'हरिबोल' से चिंता में पड़ गए थे। और मैंने पथ में महाराष्ट्र के नामदेव के शिष्यों की भक्ति देखी। सारा भारत इस भीषण अत्याचार के प्रवाह के बाद भी मुझे तो अपराजित दिखाई पड़ा।

राधे गोविन्द राधे...

राधे गोविन्द राधे...

और... हरिबोल...

आत्मा का जागरण...

मानो शेष-शय्या से सारंगधर की युगान्तर व्यापिनी निद्रा का त्याग...

और तब घंटियाँ बजने लगीं, और ज्यों-ज्यों हम तुर्कों के गढ़ गंगा-यमुना प्रदेश में पहुँचने लगे, मैंने देखा कि वहाँ के शूद्र, बंग और मगध के बौद्धों की भांति इस्लाम ग्रहण नहीं कर रहे थे, और साथ ही ब्राह्मणों की कट्टरता का भी विरोध कर रहे थे, किन्तु अपनी भारतीयता को ही सर्वोपरि मान रहे थे, वहाँ यह घंटियाँ बजती रहीं और फिर घंटों का गंभीर निनाद गूँजने लगा...और जो हमने वृन्दावन में प्रवेश किया तो मेरा मन तपस्पूत-सा हो गया।

वृद्ध ने कहा : आ गया वृन्दावन! वृन्दावन!

"जय गोपाल!"

"जय माधव!"

"हरे मुरारे, मधुकैटभारे...

"नन्द क नन्दन कदम्ब क तरु तर
धिरे-धिरे मुरलि बजाव...
समय सँकेत-निकेतन बइसल
बेरि-बेरि बोलि पठाव...
सामरि तोरा लागि,
अनखन विकल मुरारि
जमुना क तिर उपवन उदवेगल
फिरि फिरि ततहि निहारि
गोरस बेचए अबइत जाइत
जनि-जनि पुछ बनमारि
तोहि मतिमान, सुमति, मधुसूदन
बचन सुनहि किछु मोरा
भनइ विद्यापति सुनु बरजोवति
बन्दह नन्द किसोरा... "[1]

मैं झूम रहा हूँ...

नाम समेतम् कृत संकेतम्
वादयते मृदुवेणुम्

मैंने कहा, "बाबा...यह विद्यापति कौन है?"

"है नहीं, वत्स, था कहो।

"कौन था?"

"लखिमा का उपास्य!"

"लखिमा कौन थी?"

"मिथिला की रानी।"

मैं समझा नहीं।

वृद्ध ने फिर कहा, "वत्स! तू नहीं जानता? इसी अभिनव जयदेव विद्यापति की कविताएँ गाते हुए गौरांग महाप्रभु आनन्द से विह्वल होकर मूर्छित तक हो जाते थे। उसके गीतों की माधुरी को सुनेगा? बोल! सुनेगा?"

मैंने कहा, "सुनूंगा।"

तब भोर ने आकाश में जब अपनी लाली बिछाई, बाबा ने गाया-

किस विधना ने ऐसी शशिमुखी बाला का निर्माण किया है कि जिसका रूप ऐसा अद्‌भुत है। वह कामदेव के शुभ स्वरूप की भांति ही अनुपमेय है। वह तो त्रिभुवन को पराजित करने वाली माया की भाँति है।

अत्यन्त सुन्दर है मुख और अंजन से रंगे हुए हैं नेत्र।

सुन्दर कमल की भांति सुशोभित आनन में वे काजल लगे नयना ऐसे लगते हैं जैसे सुवर्ण कमल में कालसर्पिणी क्रीड़ा कर रही हो। नहीं। वह तो श्रीयुक्त खंजन हैं, नेत्रा नहीं, जो सुवर्ण के कमल में क्रीड़ा कर रहे हैं।

नाभि रूपी विवर से निकलने वाली रोमराजि ऐसी लगती है जैसे सर्पिणी बाला के सुवासित श्वासों की तृष्णा से भरकर आगे सरकी हो, किन्तु नुकीली नाक को पक्षिराज गरुड़ की चंचु समझकर भय से व्याकुल होकर कुचरूपी दो पर्वतों के बीच के संकीर्ण स्थान में आकर छिप गई हो।

श्रवण, शोषण, तापन, मोहन और उन्मादन जैसे शरों से लोक को वश में करने वाला मदन भी तीनों लोक तो तीन ही बाणों से वशीकृत कर रहा है, उसके पास दो बाण तो अब भी शेष हैं। किन्तु विधाता तो बड़ा निष्ठुर है न? तभी कदाचित उसने वे दोनों ही बाण इस सुन्दरी के दोनों नेत्रों में रख दिए हैं।

विद्यापति कहता है कि हे सुन्दरी, इस रस को तो कोई-कोई ही जानते हैं। लखिमा देवी के पति राजा सिवसिंह रूपनारायन तो इस रस-रीति से भली भांति परिचित हैं...

और जब आकाश में मेघ चमकती बिजलियाँ भर लाए तब तरुणियों ने गाया...

हे सखी हे सखी री

भीमकाय सर्प सी रात्रि काजल उगल रही है...

दुर्वार वज्र गिर रहे हैं...
मन में क्रोध भरकर मेघ गर्जन-तर्जन कर रहे हैं...
हे सखी...
अभिसार तो संशय में पड़ गया है...
सजनी री, वचन छोड़ते मुझे तो लाज आ रही है...
होना होगा सो हो लेगा...
मैं तो सब अंगीकार कर लूँगी...
मेरे मन! तू मुझे साहस दे न?

हाय! मेरा अपवाद होगा जानती हूँ किन्तु हृदय की सीमा तक उत्पन्न होने वाले को कौन जानता है...राहु ग्रसे तो क्या हुआ, चन्द्रमा तो अपने प्रिय हरिण का चिन्ह धारण किए रहता है...

प्रेम में पराजय नहीं है...

चरणों में सर्प लिपट गया, बाला ने उसे धन्य कहा क्योंकि अब नूपुर तो रोर नहीं करते...

हे सखी! सच-सच बताना, प्रेम की अंतिम सीमा क्या है? कैसा सघनांधकार है कि वहीं-वहीं लौट आती हूँ? पृथ्वी स्पर्श से ही मिल रही है। दिशा का भ्रम हो गया है...

हे हरि, हे शिव, जब तक प्रेम नहीं उपजता तब तक मन तो ऐसे ही भटका करता है...

विद्यापति कहता है कि सुचेतने! अभिसार के लिए जाने में देर मत कर, राजा सिवसिंह रूपनारायन इस सकल कला के अवलंब हैं...

मैंने सुना। सारे वृन्दावन से सुना।
मिथिला का कवि विद्यापति!
लखिमा का उपास्य!
कैसे चुम्बक से खींच लेते थे उसके गीत मेरे मन को!
अब मुझे रिक्ति क्यों नहीं लगती थी!
मेरी यह वेदना तो प्रेम की वेदना थी न?
मैं तो विरह से व्याकुल हो गया था-
हे सखी! प्रियतम अब तक लौटकर नहीं आए।
हाय! मेरा हृदय भी कैसा वज्र है कि अभी तक विदीर्ण नहीं हुआ।

उनके आने के दिन का चिन्ह बनाते-बनाते मेरे तो नख घिस गए और पथ देखते-देखते नयन अंधा गए...

जब वे मुझे छोड़कर गए थे तब मैं अज्ञातयौवना किशोरी थी और अब पूर्ण तरुणी हो गई हूँ-अब वे मेरे पास क्यों नहीं आते? हाय मेरे दुर्भाग्य!

समय आया है जब रस-विलास का, तभी वे मुझसे दूर हैं।

मेरे तो सारे पुराने गुण भी उन्होंने भुला दिए।

विद्यापति कहता है कि राधे, सुनो! हम प्रयत्न करके कृष्ण को समझाएँगे कि वह तुम्हारे पास लौटकर आ जाएँ...

माधुरी...

विभोर माधुरी-

अब मैं आपूरित-सा हूँ...और सुनना चाहता हूँ...और सुनना चाहता हूँ...मेरा माधव ही न इतनी क्रीड़ा कर रहा है...

और तब मधु आ गया, ऋतुराज वसंत...भक्तों में आनन्द की हिलोर-सी बह उठी...

उपवनों से सुनाई पड़ने लगा वह संगीत जिसके साथ सारे वाद्यों का स्वर प्रतिध्वनित होने लगा। मैंने सुना...

आ गए ऋतुराज वसन्त आ गए...

अलिदल माधवी-लताओं की ओर दौड़ चले,

रवि-किरणें कुछ तीव्र हो गईं...

केशर कुसुमों में स्वर्णिम पराग केसर निकल आए...

ऋतुराज के सिंहासन के लिए पाटल की कोमल पत्तियाँ निकल आईं और चंपा के वृक्षों ने अपने मस्तकों पर पुष्पों का छत्र धारण कर लिया...

आम्रवृक्ष की मंजरियाँ ऋतुराज का मुकुट हैं और सभा में विरुदावली गाने वाले वंदीजनों की भांति कोयल ने पंचम तान छेड़ दी...

नर्त्तकों और गायकों की भांति मयूर नृत्य कर रहे हैं और भ्रमर गुंजर भर रहे हैं...

पक्षियों के श्लोक नांदीपाठ करते हैं...

ऋतुराज के आगमन के आनन्द में पुष्पों से उड़ते पराग वायु पर चंदोवे की भांति छा गए हैं और मलयाचल से आता दक्षिण पवन बड़े स्नेह से इस पराग को बिखेर रहा है...

कुंदवल्ली का तारु पताका है, पाटल के पल्लवों का तूणीर है और अशोक के नुकीले वृक्ष उसके बाण...

धनुष की भांति पलाश के पत्तों पर प्रत्यंचा की भांति लवंग लता की शाखाएँ हैं और ऋतुराज ने रणसज्जा सजाई है...किन्तु शिशिर का सैन्य

दल तो पहले ही भंग हो गया...

ऋतुराज ने मधुमक्खियों की सेना से शिशिर को निर्मूल कर दिया।

लो! कमलिनी का उद्धार किया है और उसने अपने नूतन पल्लव ही ऋतुराज के सिंहासन के लिए प्रदान कर दिए...

कवि विद्यापति कहता है कि ऋतुराज के आगमन से ही वृन्दावन में नवजीवन का संचार हो गया...

और यों दिन-पर-दिन निकलते गए।

मैं प्रातः उठता और सारा दिन भजन-पूजन में ही निकल जाता। अब मेरा तर्क जाने कहाँ चला गया था।

हम लोग रास रचाते, गाते, बजाते।

उन्हीं दिनों संवाद आया कि दिल्ली में फिर कुछ हलचल हो रही है...लूट और हत्या...

मैंने वृद्ध वैष्णव के चरणों पर सिर झुकाकर कहा, "गुरुदेव! इतने दिन निकल गए। जीवन की शून्यता तो मिटी, संबल भी मिला, किन्तु माधुरी का सार अभी तक नहीं मिला, जो फिर केवल तृप्ति छा जाती है।"

वृद्ध क्षण-भर सोचता रहा। फिर उसने कहा, "वत्स!"

"गुरुदेव!"

"तूने प्रेम किया कभी?"

"किया देव!"

"किससे?"

"मुरारी से!"

"राधा से नहीं?"

मैं आहत हुआ।

वृद्ध ने फिर कहा, "तूने विवाह किया?"

"नहीं देव!"

"तो तूने केवल परमात्मा से ही प्रेम किया!"

मैं समझा नहीं।

मैंने गर्व से कहा, "हाँ गुरुदेव! केवल परमात्मा से ही किया।"

"यही भूल की।"

मैं आकाश से गिरा।

"तो फिर?" मैंने पूछा।

"कभी मनुष्य से भी किया?"

मैंने सिर झुका लिया।
वृद्ध ने फिर कहा, "वत्स!"
मैंने आँखें उठाईं।
"पूछूं?"
मैंने आँखों से इंगित किया, "पूछें।"
वृद्ध ने धीरे से कहा, "नारायण तो व्यापक हैं, परे हैं, सबके ही हैं न?"
"हैं तो गुरुदेव!"
"तो बता, फिर उन्हें ही नर-तन में आकर क्रीड़ा करने की आवश्यकता क्या थी? वे जो इतने रस का वर्षण कर गए हैं, आखिर क्यों? क्यों उन्होंने दीनबन्धु का रूप धारण करके लोक का उद्धार किया? वत्स! एक बात पूछूँ? तू तो बहुत पढ़ा-लिखा है?"
"पूछें।"
"क्या कभी अवतार के रूप में भगवान केवल क्रीड़ा करने पृथ्वी पर आए हैं?"
"नहीं गुरुदेव! वे तो सदैव आनन्द के साथ परोपकार करने आए हैं।"
वृद्ध के मुख पर हास्य की ज्योति-सी बिखर उठी। उसने कहा, "फिर बता कि तुझे तृप्ति क्यों नहीं मिली? मेरे मुरारी ने प्रेम किया था वत्स! किन्तु वह स्वार्थरत प्रेम नहीं था जो परिवार की स्त्रीचर्य्या में समाप्त हो जाए। वह तो ऐसा प्रेम था जो दांपत्य के बंधनों को भी स्वीकार नहीं करता था। तू नहीं जानता, जिन भक्तों ने पहले-पहल प्रेम और भक्ति के इस तादात्म्य को देखकर जीवन को अमृत का दान दिया था, उन्हें कितने विरोध सहने पड़े थे! किन्तु विरोधों की सत्ता सदैव युग-बंधन में होती है। जब व्यक्ति लोक की मर्यादा को उदात्त रूप में देखता है तब वह क्षुद्रताओं से परे उठ जाता है। तू उठ सकेगा?"
"मैं यत्न करूँगा देव! नहीं जानता ऐसा किसी ने किया भी है, या नहीं?"
"क्यों नहीं किया?"
"किसने किया था देव!"
"विद्यापति ने!"
फिर विद्यापति!!
अभिनव जयदेव!
मेरे मन का कौतूहल जाग उठा।

मैंने कहा, "गुरुदेव! मुझे संबल चाहिए। महाकवि की वाणी ने मेरी चेतना के विवरों में नाद का अमृत भरा है, मुझे और भी चाहिए। मुझे उसकी रस-माधुरी और चाहिए।"

"मैं केवल इतने ही गीत जानता हूँ। यही मैंने सुने थे।"

"और शेष कहाँ हैं?"

"मिथिला जाना होगा।"

"किस जगह?"

"बिसपी। जहाँ महाकवि का निवास-स्थान था।"

"मैं जाऊँगा गुरुदेव!"

"फिर जाओगे? लौटकर?"

"हाँ गुरुदेव! और यहीं लाऊँगा। वृन्दावन के कवि की गीतमालिका यहीं तो सुगन्ध देगी?"

"जानते हो, फिर दिल्ली में आक्रांता आए हैं? मार्ग कितना कठिन है।"

"मुझे यहाँ कौन लाए थे गुरुदेव!"

"वासुदेव!"

"तो क्या वे ही लौटा नहीं लाएँगे!"

"अवश्य लाएँगे, लाएँगे क्यों नहीं?" वृद्ध ने यह कहकर अपनी आँखों के कोनों को पोंछ लिया।

वे चले गए।

मैं न जाने किस आनन्द में विभोर बैठा रहा।

और बहुत दिन बाद मैं अब कह सकता हूँ कि उस दिन मैंने जीवन में जितना गुरुत्व अनुभव किया था, उतना ही मुझमें एक हल्कापन भी आ गया था। मैं मानो उस बादल के समान था जिसका रूप भीमाकार पर्वतों की भांति होता है, किन्तु जिसको वायु उड़ाए लिए चलती है और वह कभी इसका विरोध नहीं करता, क्योंकि वह नीरधर होता है, नीर...जिसे कहते हैं-जीवन-प्राणद- आनन्द...

रात को मुझे बहुत गहरी नींद आई। सबेरे मैंने नींद के हल्के होने पर स्वप्न देखा :

मैं चला जा रहा हूँ...

मेरी पीठ पर दो आँखें जमी हैं...

मैं मुड़कर देखता हूँ...

इन आँखों में ममता है, आशीष है...

ये किसके नेत्रा हैं...
और यह तो वैष्णववृद्ध है...
और सामने दो आँखें और हैं...
ये तो स्त्री की आँखें हैं...
यह किसके नयन हैं...
लखिमा के...
लखिमा के...
विद्यापति इसका उपास्य ही था न?
फिर ये क्यों पुलक रहे हैं?
मैं पूछता हूँ...सुनो-सुनो...
नेत्रा अपलक हैं...
मुझे क्यों देखते हो..
तुम मेरे कवि को ढूँढ़ने आ रहे हो न?
हाँ देवी...
मैंने यही कहा था...
क्या कहा था...
कवि अमर होगा...
अमर! अमर क्या है?
मनुष्य का प्रेम...
क्या यह सत्य है...
हाँ, वह देह की नश्वरता से ऊँचा है...
ऊँचा...ऊँचा...

मैं ऊपर उठने लगा, तभी मुझे लगा मैं गिर जाऊँगा। आतंक से मैं चिल्ला उठा।

नींद टूट गई।

मैंने वृद्ध के चरणों में प्रणाम किया, फिर समस्त वृन्दावन की भूमि को प्रणाम किया, उसकी रज को माथे से लगाया और वृद्ध से कहा, "गुरुदेव, आज्ञा दें... "

वृद्ध ने भर्राए स्वर से कहा, "जनार्दन तेरी रक्षा करें।"

वृद्ध की आँखों में पानी भर आया था। वे मुझे देखते रहे, देखते रहे...

और मैं चल पड़ा हूँ-नाव बह रही है-उसी यमुना में।

छूट गया है वृन्दावन...वे मन्दिर...वे संध्याएँ...

मैं कहाँ जा रहा हूँ?
बिसपी।
देखा भी तो नहीं है? कहाँ होगा वह! कब तक चलना होगा?
क्या मैं वहाँ पहुँच भी सकूँगा कभी?
यह कैसा संशय है मुझमें?
क्यों डरूँ मैं? क्योंकि मेरे साथ कोई नहीं है?
मन कहता है। गा! गा! तेरे साथ मुरारी हैं...
और मैं गाता हूँ!

नाव डोलाव अहीरे
जिबइत न पाओब तीरे
खर नीरे लो...

मेरा गीत सुनकर मांझी भी मोटे स्वर से गाते हैं...
खर नीरे लो...
मैं फिर गाता हूँ:

खेबा न लेइए मोले
हंसि हंसि की दहु बोले
जिब डोले लो...

मांझी मोटे स्वर में दुहराते हैं:
जिब डोले लो...
जब तक यह स्वर यमुना के तीरों को छूकर मंझधार तक आता है, मैं गाने लगता हूँ:

किए बिके ऐलिहु आपे
बठेलिहु मोहि बड़ सापे
मोरे पापेलो

मांझी भर्राये स्वर से गा उठते हैं: मोरे पापेलो...
अब की बार स्वर लम्बा खिंचता है:
मैं फिर छेड़ता हूँ...
मांझी फिर गाते हैं...
और यों ही हम गाते जाते हैं...यमुना गा रही है...गंगा गाएगी और जब फिर मैं बिसपी पहुँचूगा तब मेरा रोम-रोम गाएगा...धरती गाएगी ...भगवान

मनुष्य बनकर गाने लगेगा...जैसे चुम्बक को लोहे के टुकड़े से रगड़ते रहने से अन्त में वह लोहे का टुकड़ा भी चुम्बक बन जाता है...[1]

---

1. बलूचिस्तान के समीप
1. हे राधे! नन्दनन्दन श्रीकृष्ण कदम्ब के वृक्ष के नीचे बैठे धीरे-धीरे मुरली बजा रहे हैं। हे राधे! संकेत-स्थान में बैठे मिलन का समय हुआ जानकर कृष्ण मुरली के स्वरों में तुम्हें पुकार रहे हैं...

   हे राधे! हे श्यामा! तुम्हारे कारण मुरारी प्रतिक्षण विकल हो रहे हैं। यमुना तीरस्थ उपवन में अत्यन्त व्याकुलता से वे बारम्बार उसी ओर देखते हैं जिधर से तुम्हारे आने की आशा है...

   हे राधे! गोरस बेचकर लौटने वाली और बेचने जाने वाली प्रत्येक गोपी से वनमाली तुम्हारे सम्बन्ध में पूछ रहे हैं...

   हे सुमति, हे चतुरनारी, मेरी कुछ बातें तो सुनो।

   मधुसूदन तुम पर अनुरक्त हैं...

   विद्यापति कहता है कि युवतियों में श्रेष्ठ राधे! तुम नंदकिशोर की वंदना करो...
1. गीत का अर्थ: हे अहीर (कृष्ण) तू ही नाव को बहुत हिला-डुला रहा है, तभी तो नाव किनारे नहीं लगती। जलधार कितनी प्रखर है! तूने कोई नाव मोल तो नहीं ले ली...यह सुन दोनों हंस पड़े...जिय डोलने लगे...(राधा कहती है) मैं क्या तुम्हारे हाथ बिक गई हूँ...हाय मेरा शाप न लो तुम...विधाता बड़ा दुख देता है...

चुम्बक की यात्रा

यही विद्यापति की जन्मभूमि है। यही मिथिला की गौरव-भूमि है। मैं आ गया हूँ। कितना अज्ञात, फिर भी मन के कितने समीप! कितना अनजाना! फिर भी कितना परिचित! ठीक जैसे मुरारी! दूर, फिर भी मन में। अज्ञात ही होने पर भी मन का सबसे बड़ा संबल है।

जब मैं पहुँचा, रात आने लगी थी।

मैं बढ़ता जाता था।

एक ओर खेत लहलहा रहे थे। मैंने वहाँ कुछ कृषकों को देखा। जब मैं समीप गया, वे श्रद्धा से नमित हुए।

"कहाँ जाएँगे?"

मैंने कहा, "विद्यापति के घर!"

कुछ लोग हँसे।

एक वृद्ध ने कहा, "वे तो गुज़र गए, सौ वर्ष हुए।"

सौ वर्ष!

"हाँ, हाँ, जानता हूँ।"

"ब्राह्मण हैं?"

"हाँ।"

"तो ठहरें यहीं, रात हो गई है। बिसपी अभी तीन कोस है। जाड़ा पड़ रहा है। कहाँ जाएँगे अभी!" फिर कहा, "मंगल!"

"हाँ काका!"

"अरे देवता आए हैं। लोटा-डोर ला। लोटा मांज।" फिर मुझसे मुड़कर कहा, "देवता! कहाँ से आते हैं?"

"वृन्दावन से।"

"हा हा!!" हूह-सी मच गई।

कृष्ण की भूमि से! ब्रजभूमि से! धन्य भाग! दर्शन दिए।"

"कैसी होगी।"

"महाकवि ने तो उसी के लिए सब कुछ न्यौछावर कर दिया।"

मुझे लगा, विद्यापति मरा नहीं था। वह जीवित था। वे मूर्ख हैं जो समझते हैं कि मनुष्य तभी तक जीवित रहता है जब तक उसकी देह रहती है। वास्तव में जीवित रहने वाले तो उसके सुकृत हैं, उसका नाम है। वही तो इस जगत् में जीवित रहता है क्योंकि वही मनष्यों के हृदयों में बाद में भी उसके प्रति एक आदर की भावना को जाग्रत् किया करता है।

मैंने शीतल जल से स्नान किया और तब खिचड़ी बनाकर खाई और फिर मैं भी अलाव के पास जा बैठा। लपटों का ताप मुझे बहुत अच्छा लगा।

एक बूढ़े किसान ने कहा, "देवता! बिसपी कैसे जा रहे हैं?"

मैंने कहा, "मैं महाकवि विद्यापति की कविताएँ लेने जा रहा हूँ। उन्हें लेकर फिर वृन्दावन जाऊँगा।"

"बड़ा पुण्य है, बड़ा पुण्य है। कवि तो बड़े अच्छे हृदय के आदमी थे। बहुत बड़े आदमी थे, लेकिन राजा के साथ बैठने का तनिक भी गर्व नहीं था। वे तो हम लोगों से आकर मिलते थे। मेरे बाबा ने उन्हें देखा था। तब कवि बूढ़े हो गए थे। विद्यापति ठाकुर के पास गरीब अपनी विपदाएँ जाकर सुनाते थे तो वे तुरन्त सहायता करते थे या राजा से कराते थे। उन दिनों मिथिला पर तुर्कों का राज्य नहीं था। हमारी मिथिला स्वतन्त्रा थी। चारों ओर मुसलमानी राज्य था, लेकिन हमारी मिथिला सबके बीच में अकेली थी।

फिर चर्चा चल पड़ी।

वे मुझे सुनाने लगे।

एक रात। घना अँधेरा।

कवि घूमने निकले सो देर हो गई।

बादल-से छा गए।

अनूभा थी एक, पड़ोस के गाँव की। कवि ने घोर-घुप्प अँधेरा देखा तो जो गाँव में आश्रय लेने बढ़े तो उसी के द्वार पर जा पहुँचे। सुनते क्या हैं एक पुरुष बाहर अलिंद में खड़ा है और अनूभा कह रही थी, "हे यात्री, अब जाओगे?"

यात्री कह रहा था, "क्यों, क्या हुआ?"

"अरे," अनूभा ने कहा, "यहाँ तो पड़ोसियों में तनिक भी प्रेम तक नहीं। मैं क्या करूँ, मेरे पति मुझे छोड़कर तभी परदेस चले गए, जब मैं छोटी ही

थी। कई बरस हुए। वे होते तो तुम्हारा सत्कार करती। और मेरी सास है, उसे रतौंधी आती है और बहरी भी है। है भी मेरे पति की सौतेली माँ।"

यात्री सोचने लगा।

अनूभा ने कहा, "जागते रहना रात-भर। यहाँ चोर बहुत हैं इस गाँव में। अंधेरी रात वैसे है। तुम बाहर पड़े हो।"

यात्री ने कहा, "तो क्या यहाँ कोतवाल नहीं?"

"अरे कभी भूलकर भी तो रात को भ्रमण नहीं करता वह। कोई कुछ कहे, वह क्या कभी किसी की सुनता है? राजा तक अपराधियों को दण्ड नहीं देता।"

"लेकिन," यात्री ने कहा, "मैं ठहरूँगा तो लोग कुछ..."

"कहेंगे क्या? सब हमारी ही जाति के तो हैं। कोई क्या कहेगा? यात्री को आपत्ति में स्थान देना क्या अपराध है?"

यात्री यह सुनकर घर के भीतर चला गया।

कवि मन ही मन बहुत हँसे। चुपचाप लौट आए। मेला हुआ। कवि तो बड़े भारी रसिक थे।

लोगों ने घेर लिया। नट और नटी तब अनेक मज़ाक कर रहे थे। लोग कहने लगे, "ठाकुर दादा! एक मज़ाक की होगी।" बहुत बड़े आदमी थे, फिर भी सबसे निर्द्वन्द्व हृदय से मिलते थे। वहीं पास में घूंघट किए खड़ी थी एक स्त्री। वह अनूभा थी। मेले में आई थी।

कवि ने कहा, "तो हास-विलास की होगी?"

"हाँ, ठाकुर दादा! यहाँ तो बस!"

"तो सुनो" कहकर कवि ने सुनाई-

हे पथिक, मैं पूर्ण युवती हूँ और मेरा पति विदेश गया हुआ है। यहाँ पड़ोस में प्रेम छू तक नहीं गया। मेरी सास विमाता, बहरी, रतौंधी वाली हैं, हे पथिक जागते रहो...[1]

जब कविता समाप्त हो गई, सब खूब हंसे।

कवि वहाँ से हट गए।

आम की छाया में खड़े थे, कि एक स्त्री ने आकर पाँव छुए। देखा कवि ने। अनूभा थी।

भरे गले से स्त्री ने कहा, "तुम्हें सरस्वती मिल गई है न ठाकुर दादा? सब कुछ जानते हो न?"

कवि ने स्वर से पहचाना। कहा, "हाँ।" मन ही मन फिर हँसे।

तब स्त्री ने कहा, "तो कैसे कवि हो देवता! मेरे पति को नहीं बुला सकते? तुम तो जानते होगे वे कहाँ हैं?"

शायद वह रो रही थी।

विद्यापति की आँखें वेदना से भर आईं।

कहा, "रोती क्यों हो? वह भी आएगा। एक दिन आएगा।"

"आएगा?" स्त्री ने कहा।

"आएगा।"

वह चली गई।

दूसरे दिन गंगा के किनारे उसका शव मिला। कवि ने देखा तो बहुत ही व्याकुल हुए। उसके बाद उसकी आदत दूसरी हो गई। जगन्नाथ मिश्र बड़े विद्वान थे बिसपी के। उनकी एक कन्या थी। लड़की कोई तेरह वर्ष की थी। लोभ के मारे मिश्र को ऐसे पिता का पुत्र मिला जो गाँठ का पूरा बना हुआ था। मिश्र रुपया लेकर तैयार हो गए उसके पुत्र को कन्या देने को। दूल्हा पाँच बरस का। और पता चला विद्यापति को। उन्होंने तलाश किया तो मालूम हुआ कि लड़के का बाप छलिया था, ऐसा धनी भी न था। जगन्नाथ ऊँचे कुल से किसी प्रकार सम्बन्ध जोड़कर ऊँची नाक चाहता था। जगन्नाथ दरिद्र था तो भी पूर्वजों का नाम पूजता आ रहा था।

कवि ने देखा, लड़की का जीवन बिगड़ेगा। एक दिन एक कविता लिखकर लड़कों को रटा दी। लड़के जगन्नाथ के घर के सामने गाने लगे-

"मेरे पिया बालक हैं, मैं तरुणी हूँ। जाने कौन चूक हो गई जो स्त्री होकर जन्म लिया। सब सखियाँ दक्षिण देश के सुन्दर वस्त्र पहनती हैं, और मैं अपने पिया को देखती हूँ तो मेरे रोम-रोम में आग सुलग उठती है। हे सखी, मैं पिया को गोदी में लेकर बाज़ार जाती हूँ तो हाट के लोग पूछते हैं कि यह तेरा कौन है? मैं कहती हूँ कि न मेरा देवर है, न छोटा भाई, पूर्व जन्म के पापों का फल मेरा बालम है। लोग गोदी में चढ़े मेरे पति को देख के पूछते हैं कि बच्चे! तू क्या स्त्री का भाई है जो मायके से समाचार लेने आया है। किसी का पिता धनी होता है, उसके पास अनेक गाएँ होती हैं, वह तो दूध पिला-पिला के जमाई को झट से पुष्ट कर लेता है, परन्तु सखी! मेरे पिता तो निर्धन हैं, न उनके पास टका है, न दूध देने वाली गाएँ हैं। मैं इस जमाई को कैसे जल्दी से तैयार कर दूँ। विद्यापति कहता है, सुन ब्रज-नारी! धीरज धर तो तुझे मुरारी अवश्य मिलेंगे।

कविता गाने की देर थी कि सब हँसने लगे। जगन्नाथ की स्त्री ने तो जगन्नाथ की आफत कर दी। वह विवाह रुक गया।

वे सब हँस पड़े।

"सच!" मैंने कहा, "हमारे देश का बाल-विवाह है भी बहुत बुरा।"

फिर एक ने कहा, तब किसी और ने कुछ सुनाया और मैंने देखा कि सारी रात ही इस तरह बातों में बीत गई। इस सबमें केवल महाकवि की दन्तकथाएँ ही थीं। उनकी कथाएँ किस प्रकार आबाल-वृद्ध में प्रचलित थीं, यह जानकर मेरे मन में हर्ष की हिलोरें उठने लगीं।

स्नान-ध्यान करके मैं बिसपी चल पड़ा।

यही है विद्यापति का अर्पित ग्राम।

जब मैं उनके भवन पहुँचा, विशाल अट्टालिका दिखाई दी। अब भी वहाँ वैभव था।

मुझे देखकर एक बालक खेलता हुआ आ गया।

मैंने कहा, "सुनो भैया! यहाँ आओ।"

बालक अबोध-सा हट गया।

एक व्यक्ति आया।

"कौन हैं आप?"

"वृन्दावन से आया यात्री हूँ। तुम्हारे स्वामी से मिलना चाहता हूँ।"

शायद वह कारिन्दा था। भीतर लौट गया।

कुछ देर बाद एक और नौकर ने आकर कहा, "चलिए। स्वामी बुलाते हैं।"

मैं भीतर चला गया।

एक विशाल प्रकोष्ठ था। उसमें नीचे कालीन बिछा हुआ था। छत से काँच के कमल लटक रहे थे। प्रकोष्ठ बड़ा सुसज्जित था।

मुझे देखकर गृहस्वामी उठ आए। वे लगभग 40 वर्ष के थे। बोले, "ब्राह्मण हैं।"

"मैंने कहा, "हाँ, ब्राह्मण ही हूँ।"

"स्वागत है," कहकर उन्होंने पुकारा, "जल लाओ।"

नौकर जल ले आए। मेरे पाँव धुलाने लगे वे। मैं संकोच से भर गया।

मैंने कहा, "रहने दीजिए, रहने दीजिए।"

उन्होंने कहा, "सुदूर वृन्दावन की जो धूल आप अकस्मात् ही इस घर में ले आए हैं उसे आपसे लिए क्या छोड़ दूँगा!"

वे मुस्करा दिए।

जब हम बैठ गए तब उन्होंने कहा, "कहें देवता! वैसे ही यात्रा में रुके, या कुछ उद्देश्य भी था?"

"आया था महाकवि की काव्य-कृतियों की नकल उतारकर फिर माधव के धाम में ले जाने। आप उनके..."

"प्रपौत्र हूँ। पन्द्रह वर्ष पूर्व ही पिता का देहान्त हुआ, तब से मैं ही यहाँ हूँ। वृन्दावन से आए हैं आप, इसलिए...धन्य हो, धन्य हो... कैसे मनस्वी हैं, कैसे-कैसे तपस्वी हैं...धन्य हो..."

"और महाकवि क्या दैवी चमर की भांति नहीं थे..."

इसी समय वही बालक खेलता हुआ आया और गृहस्वामी के पास बैठ गया। गृहस्वामी ने कहा, "यह बालक देखते हैं न? स्वयं साक्षात् देवाधिदेव महादेव का वंशज है।"

मैं चकित-सा रह गया। मैं इतना पढ़ा था किन्तु कभी कार्तिकेय और गणेश की वंशावली नहीं पढ़ी थी, और वह भी मुझे अकस्मात् ही मिथिला के बिसपी ग्राम में ठेठ स्वर्गीय विद्यापति के गृह में मिलेगी, यह तो ऐसी बात थी जिसका मैं उस समय भी विश्वास नहीं कर सका। हम नित्य चमत्कारों की अवश्य सुनते हैं, किन्तु जब वह सामने आ जाता है तब पहले उसे तर्क की कसौटी पर कसने की चेष्टा करते हैं।

मैंने उनकी ओर आँख उठाई कि वे कहीं मुस्करा तो नहीं रहे हैं, किन्तु शायद वे भाँप गए। बोले, "शायद आपको विश्वास नहीं हुआ। तो सुनिए। महाकवि का एक सेवक था। जिसका नाम उदना था। उसे कविपत्नी पसन्द नहीं करती थीं क्योंकि वह बहुत भोला था। यद्यपि वह कार्यपटु था और स्वामी का अत्यन्त कृपापात्र था, किन्तु कविपत्नी को हो सकता है इसी से ईर्ष्या रही हो, वे उसे सदा ही डांटा-फटकारा करती थीं। एक दिन महाकवि कहीं गए थे, उस समय कविपत्नी ने रोष से उदना को भगा दिया। जब कवि लौटे तो बहुत ही व्यथित हुए, उन्होंने अब गीत लिखा था-हाय मेरा उदना कहाँ चला गया।"

गृहस्वामी कुछ क्षण मेरी ओर देखते रहे और फिर उन्होंने कहा, "वह उदना और कोई नहीं, महाकवि की भक्ति से प्रसन्न होकर नौकर के रूप में आकर भक्त की सेवा करने वाले औढर दानी देवाधिदेव महादेव ही थे।"

मैं स्तम्भित-सा बैठा रहा। एक मन करता था कह दूँ असम्भव, दूसरा मन याद करता था कवि की महानता को। अन्त में यही स्वर आया-हो सकता है। इस लोक में अनेक आश्चर्य हैं। यह भी हो सकता है। बड़ों की बातें भी बड़ी ही होती हैं।

आँखें कुछ झुक-सी गईं उनकी।

बोले, "उदना नहीं मिला। कई वर्ष बीत गए। खोज जारी रही। अन्त में मुझे पड़ोस के ग्राम में यह बालक मिला। यह उदना का ही वंशज है।"

मैंने दीर्घ निश्वास लिया।

गृहस्वामी ने कहा, "देवता! अपका आगमन शुभ है। रहिए और आपका कार्य सम्पन्न होगा।"

इस प्रकार मैं वहीं रहने लगा और गृहस्वामी ने मुझे विद्यापति के जीवन की अनेक दन्तकथाएँ सुनाईं। एक दिन बोले, "कितने गीतों की नकल कर ली आपने?"

मैंने कहा, "हज़ार से भी ऊपर हो चुके हैं।

"सौ बरस हो गए न? कुछ खो भी गए हैं।"

"अब नहीं खोने चाहिए, कैसा अपार लालित्य है!"

वे कुछ सोचने लगे, फिर बोले, "सुल्तान का शासन है न? अब तो अनेक बन्धन हैं। पहले हमारा राजा था।"

फिर जाने क्यों वे चुप रह गए।

मैं सोचता रहा।

फिर बोले, "अच्छा, कल मैं भी आपके साथ पुस्तकालय चलूँगा और पुस्तकें देखूँगा।"

मैंने कहा, "इससे बढ़कर क्या होगा?"

दूसरे दिन हम पुस्तकालय में गए। भूर्ज्जपत्र और तालपत्र पर लिखी कई पुस्तकें काठों के बीच में बंधी पड़ी थीं।

गृहस्वामी ने बैठते हुए कहा, "विराजें।"

मैं बैठ गया।

मैंने देखा, चारों ओर पुस्तकें ही पुस्तकें भरी पड़ी थीं।

"हाँ," वे बोले, "यह हमारा कुल-पुरम्परा से आता ग्रन्थागार है। स्वयं कर्मादित्य ठाकुर बड़े पंडित थे। उनके बाद आज मैं दसवीं पीढ़ी पर हूँ। निरन्तर पुस्तकें भरती ही जाती हैं। फिर महाकवि को किस बात की कमी थी!"

मैंने स्वीकार किया।

गृहस्वामी ने एक ग्रन्थ की ओर इंगित करके कहा, "यह देखिए, महामहोपाध्याय पक्षधर मिश्र का लिखा विष्णुपुराण है। लक्ष्मण संवत् 354 का लिखा हुआ है। यह महाकवि के सहपाठी थे। महामहोपाध्याय हरिमिश्र महाकवि के गुरु थे। पहले महाकवि दार्शनिक थे। जब उन्होंने अपनी शिक्षा समाप्त की तो वे अपने पिता के साथ राजा गणेश्वर की सभा में जाने लगे। महाकवि ने लम्बी आयु पाई थी। उनके समय में अनेक राजा बदल गए।

"राजा गणेश्वर के उपरान्त कीर्त्तिसिंह राजा और उनके समय में महाकवि अपने खेलन उपनाम से कविता लिखते थे। जिस समय राजा कीर्त्तिसिंह और उनके भ्राता वीरसिंह जौनपुर के सुल्तान इब्राहीमशाह से मिलने गए थे तब तरुण कवि भी साथ गए थे।"

यह कहकर गृहस्वामी उठे और भीतर चले गए और लौटे तो उनके हाथ में एक ताम्रपत्र था।

बोले, "इसे पढ़कर देखिए।"

मैंने लेकर प्रकाश की ओर मोड़कर पढ़ा। अन्त में मैं ज़ोर से पढ़ गया:

श्री विद्यापतिशर्मणे सुकवये वाणी रसस्वादवि-
द्वीर श्री शिवसिंह देव नृपतिर्ग्राम ददे शासनम्।

गृहस्वामी ने मेरी ओर देखा। कितनी गौरव की भावना थी उन नयनों में।

मैंने ताम्रपत्र दे दिया। वे हाथ में लिए बैठे-बैठे कुछ सोचने लगे। फिर बोले, "राजा सिवसिंह के उपरान्त फिर कवि का मन काव्य में अधिक नहीं लगा।"

फिर सहसा वे जाग उठे।

बोले, "अरे! मैंने पुस्तकें तो दिखाईं ही नहीं। ये देखिए। आप तो समझते हैं कि महाकवि मैथिली के ही कवि थे। यही न? यह देखिए इधर। यह भू-परिक्रमा है जिसमें बलराम के शापग्रस्त होने के बाद प्रायश्चित्त के लिए तीर्थों में जाने की कथा बहुत ही मनोहर ढंग से कही गई है। संस्कृत में है। यह सब मैं आपको उनकी संस्कृत की रचनाएँ ही दिखाऊँगा। और यह है पुरुष परीक्षा। राजा सिवसिंह के समय में लिखी गई। इसमें महमूद गज़नवी से लेकर तत्कालीन घटनाएँ वर्णित हैं तथा पुरुषों के लक्षणों का भी उल्लेख है। यह लिखनावली है जो राजबनौली के राजा पुरादित्य के लिए लिखी गई थी। इसमें पत्र लिखने की विधि इत्यादि हैं। तब के बहुत-से राजाओं और

गण्यमान्य लोगों के भी इसमें उल्लेख हैं। और यह शैव सर्वस्वस्तर राजा पद्मसिंह की रानी विश्वासदेवी के लिए लिखी गई थी। हरिद्वार से गंगासागर के समस्त तीर्थों के माहात्म्य को प्रकट करने वाली यह गंगावाक्यावली भी उसी रानी के लिए कवि ने लिखी थी। आपको सम्भवतः ज्ञात नहीं है, मैं आपको बता दूँ। महाकवि के आश्रयदाता राजा सिवसिंह की मृत्यु के उपरान्त उनके कनिष्ठ भ्राता पद्मसिंह का शासन स्थापित हुआ किन्तु तब वे मुसलमानों के आक्रमण को नहीं रोक सके। विद्यापति को स्वयं मुसलमानों का बन्दी बनकर रहना पड़ा था। उन्होंने देश में आतंक देखा था। कहते हैं फिर कवि ने शृंगारिक कविताएँ अवश्य लिखीं किन्तु उसमें उनका मन अधिक नहीं रमा।

"राजा गणेश्वर के समय में वे बालक थे, कीर्त्तिसिंह के समय तरुण हुए। कीर्त्तिसिंह निःसंतान मरे। उनके उपरान्त कुछ काल को राजा भवसिंह सिंहासन पर आए। उनके पुत्र देवसिंह जब सिंहासन पर आए तब सिवसिंह शासन सम्भालने लगे। महाकवि राजा सिवसिंह के समय में युवक थे। पद्मसिंह दिल्ली सुल्तान के आधीन थे। उनके कोई पुत्र नहीं हुआ। उनकी पत्नी रानी विश्वासदेवी ही ने राज्य संभाला। इसी समय म्लेच्छों से अपने धर्म की रक्षा में लगे कवि ने कई धार्मिक ग्रन्थ लिखे। रानी के निस्संतान मरने पर मिथिला का राज्य मिथिला के नए राजवंश के संस्थापक कामेश्वर ठाकुर के द्वितीय पुत्र भवसिंह की तीसरी स्त्री के पुत्र हरिसिंह को मिला। हरिसिंह के उपरान्त दर्पनारायण नरसिंह देव राजा हुए। उनके बाद धीरसिंह, फिर उनके बाद उनके छोटे भाई भैरवसिंह ने राज्य किया।"

मैं उस समय गृहस्वामी की जीभ पर रखे वृत्तांत को सुनकर चकित हो गया। और वे कहे जा रहे थे: "भैरवसिंह के दो पुत्र थे महाराज पुरुषोत्तम और रामभद्रसिंह गरुड़ नारायण। इन दोनों ने ही एक-दूसरे के उपरान्त क्रम से राज्य किया। धीरसिंह के दो पुत्र थे राघवसिंह और जगन्नारायणसिंह। फिर इन्होंने राज्य किया। जगन्नारायणसिंह के बाद उनके ज्येष्ठ पुत्र रुद्रनारायणसिंह सिंहासन पर बैठे। इन्हीं के समय में महाकवि का देहान्त हुआ था।"

गृहस्वामी ने थककर एक सांस ली।

"कवि दीर्घायु थे," मैंने कहा, "बहुत संसार देखा उन्होंने!"

"किन्तु" गृहस्वामी ने गंभीरता से कहा, "इतना लम्बा जीवन सदैव ही दुखदायी हो जाया करता है न?"

मैंने कहा, "निस्संदेह।"

गृहस्वामी विचार-मग्न से कहते गए, "कैसा वैभव था तब? अब क्या है। तब मिथिला के राजा बिसपी आते थे और अब हमें कौन पूछता है!"

फिर जैसे वह सहसा ही संभल गए, उन्होंने इधर-उधर देखा कि कहीं कोई सुन तो नहीं रहा था। एक सेवक तभी ताड़ का बड़ा पंखा झलने के लिए ले आया।

उसे देखकर गृहस्वामी ने कहा, "क्यों रे लखना! वह आ गया वीरसिंह?"

"हाँ प्रभु!"

"क्या कहा उन लोगों ने?"

"वे कहते हैं कि हमें इसी धरती को जोतते तीन पीढ़ी हो गईं। हमें विद्यापति ठाकुर ने धरती दी थी। अब हमारे स्वामी हमसे क्यों छीनते हैं? हम बिसपी के नहीं, या उनकी प्रजा नहीं?"

गृहस्वामी ने कहा, "अब ठीक हुए न? किन्तु वे तो धमकी देते थे न कि हम मुसलमान हो जाएँगे और देखें ठाकुर हमारा क्या करते हैं।" फिर वे मुड़कर मुझसे बोले, "बौद्ध हैं, बौद्ध। समझते हैं कि मुसलमान बन जाने से हमें डरा सकेंगे। हाँ, जगह-जगह ऐसा हो रहा है। ऐसे नए मुसलमानों को दिल्ली के सुल्तानों से बड़ी रियायतें मिलती हैं। अब आप ही कहिए। बौद्ध हैं, परन्तु वैसे जाति के तेली हैं। मैं पूछता हूँ, तेली क्या बराबरी में बिठाया जा सकता है? वे तो कहते हैं कि हम नीच जाति बनकर क्यों रहें? हम तो मुसलमान होकर शासकों की जाति के हो जाएँगे। और जानते हैं आप? उनसे भी नीचे जाति के चमार हैं। एक भी तो मुसलमान नहीं होता। इन्होंने तो साफ कह दिया कि मुसलमान क्यों हों? हमें हमारा भगवान प्यारा है। गौरांग महाप्रभु के शिष्यों ने तो नीच जातियों को बड़ा भारी सहारा दिया है।"

मैंने कहा, "मैं तो सब जगह घूमा हूँ। दक्षिण में, पश्चिम में, सब ही ओर से भक्ति का प्रवाह बहा आ रहा है। मुझसे तो इस आर्ष संस्कृति को विनष्ट होते नहीं देखा जाता। हम क्या मुसलमानों को बुरा कहते हैं? किन्तु वे हमारे धर्म का नाश क्यों करते हैं?"

हठात् गृहस्वामी ने कहा, 'लखना! तेलियों को बौद्ध धर्म छोड़कर वैष्णव नहीं बनवा सकता? इनाम मिलेगा।"

लखना ने हंसकर कहा, "वे कब उधर जाना चाहते हैं स्वामी। सोचा था हम डर जाएँगे। इधर कुछ मुसलमान वह बंगीय बौद्धों का 'मुहम्मदपुराण'

लेकर प्रचार कर रहे हैं कि मुहम्मद तो बोधिसत्व का अवतार है..."

वे दोनों हँसे। जब लखना चला गया, गृहस्वामी ने फिर सामने रखी किताबों को एक-एक करके दिखाना प्रारम्भ किया। उन्होंने अपने माथे पर आई बालों की लट हटाकर कहा, "हाँ तो, राजा नरसिंहदेव की आज्ञा से महाकवि ने विभागसार लिखा जिसमें सम्पत्ति के विभाजन और अधिकारों का वर्णन है। दान-वाक्यावली में दान की व्याख्या है, विधि है। ये गयापत्तलक है, जिसमें गया श्राद्ध की विधि है। ये दुर्गाभक्ति तरंगिणी, शैवसर्वस्वसार प्रमाणभूत हैं। यह वर्ष-कृत्य है जिसमें समस्त वर्ष के पर्वों का विधान है। और यह उनका पुराण संग्रह नामक ग्रन्थ है।"

इससे तो मैं ऊब चुका था। गृहस्वामी बड़े मग्न थे, किन्तु मुझे न जाने क्यों इस सबमें दिलचस्पी नहीं आ रही थी। तभी उन्होंने कहा, "और यह कीर्त्तिलता और कीर्त्तिपताका उनकी अवहट्ट की पुस्तकें हैं। राजा कीर्त्तिसिंह के युद्ध-विजय, राज्याभिषेक आदि अन्य घटनाओं का इनमें उल्लेख है।"

यह तो मेरा विद्यापति नहीं था। मुझे तो वह विद्यापति चाहिए था जो कि इन युग-बन्धनों के परे मानवमात्रा की वस्तु हो चुका था। पाण्डित्य संसार में दुर्लभ नहीं, कवित्व दुर्लभ है। पनघट के पाषाण भी पनिहारिनों की रस्सियों से घिस जाते हैं, फिर मनुष्य-बुद्धि का क्या? यह विद्यापति तो एक ब्राह्मणमात्र था, इसमें उसने संसार को नवीनता क्या दी? कुछ नहीं। मनुष्य की भाव-सृष्टि में उसने और क्या जोड़ा? और गृहस्वामी इसी पर गर्व कर रहे हैं। ठीक ही तो है, वो समझते हैं कि जो सम्पत्ति वे भोग रहे हैं वह उसी पाण्डित्य का परिणाम है। किन्तु गृहस्वामी उस कला को नहीं देख पा रहे जिसके द्वारा विद्यापति ने केवल बिसपी ग्राम की सम्पत्ति ही अर्जित नहीं की जिसे गृहस्वामी खा रहे हैं, वरन ऐसी सार्वभौमिक सम्पत्ति कमाई जो जन-मन के लिए सदा के लिए अक्षय आनन्द का स्रोत बन गई है। गधा भी जब बोझ ढोते-ढोते आदी हो जाता है तब चुपचाप ही स्वामी का सामान गंतव्य पर पहुँचा देता है। ऐसा ही तो है यह पाण्डित्य। मैं वेदों का पण्डित क्या हूँ? अध्यापन विकास कर सकता है, किन्तु वह कभी भी मंज़िल नहीं है। वह मनुष्य के बाह्य का आडम्बर रच सकता है, उसे सभ्य बना सकता है, किन्तु उसे सुसंस्कृत नहीं बना सकता। वह काम तो मानवीय संवेदनाओं के द्वारा ही पूर्ण होता है।

मैं तो कह पा चुका था, जिसके लिए मैं इतनी दूर से आया था। क्या है विद्यापति? कुछ नहीं। उसके जीवन का ही क्या महत्त्व है! इस आर्यदेश में सदैव ही लोक-कल्याण की भावना में मग्न दार्शनिक और कवियों ने अनाम रहकर ही मानव को अक्षय संस्कृति दान की है, और वे कभी किसी ऐहिक सुख के लिए झुके नहीं, क्योंकि उनमें आत्मबल था, उन्होंने अपने दैहिक सत्ता के बन्धन को जितना जीता जा सकता था, जीत लिया था। मिथिला की सभा में न जाने कितने कवि थे, किन्तु वे उन्हीं प्राचीरों में लुप्त हो गए। प्रतिभा कितने ही बन्धनों में क्यों न रहे, यदि वह सच्ची साधना की पुत्री है, तो पत्थर में से भी पानी निकाल लेती है, यश तब मिलता है जब उसके लिए जिया नहीं जाता। जब अपनी हीनता की भावना लुप्त हो जाती है और कर्त्तव्यहीनता के स्थान पर ईर्ष्या का लोप करने वाली, स्पर्धा के अहं को नष्ट करने वाली कर्म की चेतना जाग उठती है, तब व्यक्ति में समर्पण ही संतोष बन जाता है, उसे ही देखकर संसार अपना शीश झुकाता है। यश तो पाषाण की मूर्त्ति में से उजागर होता है, यदि कलाकार पत्थर को भी अपने मन की आकृति देने में सफल हो जाता है।

पता नहीं कब तक मैं सोचता रहा, अन्त में गृहस्वामी ही मुझे ले आए। अनेक दिन फिर बीत गए। नित्य वे मुझे विद्यापति के सम्बन्ध की प्रचलित कथाएँ सुनाया करते यहाँ तक कि फिर तो स्वयं उनकी कविताएँ पढ़ते समय मुझे लगता मेरे सामने कवि ही मूर्त्तिमान रूप से उपस्थित हैं।

रात हो गई थी उस समय अंधेरी। मैं सो रहा था। दूर निर्जन में मैं न जाने कहाँ चला जा रहा था...सुदूर...

बियाबान...

अचानक मैं ठहर गया...

यह तो एक विशाल भवन था...

बिसपी का भवन...

कितना नया था यह...

बाहर कितने सेवक इधर-उधर घूम रहे थे...

कहीं वीणा की अस्फुट झंकार सुनाई दी...

मैं आगे बढ़ा...

चंपा की-सी गन्ध हवा पर बही आ रही थी...

पेड़ों के घने पत्तों में से धूप छनछन कर आ रही थी...

कहीं कोई पक्षी बोला, अनाहत-सा स्वर, दिव्य चेतना का-सा स्वर...

और मैंने देखा :

वृद्ध कवि को खाँसी-सी उठी।
वह जाकर पलंग पर लेट गए।
"हरिपति कहाँ हैं?"
दुल्लहि निकट आई।
"क्या है बाबा!"[1]
"तेरा भाई कहाँ है?"
"वे तो खेतों की ओर गए हैं।"
"और तेरी माता कहाँ है?"
"मन्दिर गई हैं।"
वृद्ध चुप हो गया।
आज वह सोच रहा था।

नाना प्रकार के पाप करके जो सम्पत्ति बटोरी थी उस सबको तो कुटुम्बी और सगे-सम्बन्धी मिलकर खा गए। वह अब कहाँ है! वह वैभव! वह राजसी मर्यादा। क्या लाभ हुआ उस सबसे? अब तक का सारा प्रयत्न व्यर्थ ही तो गया!

अन्त निकट आ रहा है। जिन परिजनों ने सम्पत्ति को उड़ाया वे आज कहाँ हैं? कोई भी पास नहीं है।

माधव! हे माधव!

सचमुच, आज मुझे विश्वास हो रहा है कि मृत्यु के उपरान्त जीव के संग केवल उसके कर्मफल ही जाते हैं और समस्त धन-वैभव यहीं पड़ा रह जाता है।

कवि कहता है, "बेटी! दुल्लहि!"
"हाँ, बाबा।"
"आ बेटी। मेरे पास बैठ।"
बेटी बैठती है। वह विवाहित है। घर आई है।
पिता कहता है, "याद है न बेटी!"
बेटी आँख उठाकर देखती है।

"इसी घर में कितना कोलाहल हुआ करता था! कितने आनन्द! कितने हास-विलास! वे सब कहाँ गए? वे सब कहाँ लुप्त हो गए?"

"काल खा गया! उन्हें काल निगल गया!" वृद्ध फिर कहता है, "काल किसी को नहीं छोड़ता।"

और तब वह कहता है, "बेटी!"

"हाँ, पिता!"

"यह संसार जानती है कैसा है?"

"बाबा! तुमने कहा था यह भवसागर है।"

"कहा था, तब अनुभव नहीं किया था बेटी। तूने सागर देखा है?"

"देखा है बाबा, जगन्नाथपुरी में।"

"बस, बस। स्नान किया है उसमें?"

"किया है!"

"जानती है सागर! कैसे-कैसे विकराल जन्तु होते हैं उसमें। वैसे ही तो यह संसार भी है। इसमें भी तो मनुष्य को लोभ और काम के मगरमच्छ ग्रसते हैं। किन्तु मेरा तो सारा जीवन बिना माधव के चरणों की सेवा किए ही बीत गया। जीवन-भर मैं तो रमणियों से क्रीड़ासक्त ही बना रहा। मुझे भजन का अवकाश ही कहाँ मिला। मैं कैसे यह भवसागर तर सकूँगा?"

वृद्ध ने करुण स्वर से कहा, "मैं कैसा वज्र मूर्ख हूँ कि अमृत-समान गोपाल के चरणों को छोड़कर कालकूट के समान भयंकर रमणी-रूपी हलाहल को मन भरकर पिया है, तभी तो मेरा सारा ऐश्वर्य और गौरव नष्ट हो गया है!

"मैं पापी हूँ, मैं पापी हूँ..."

वृद्ध रोने लगा।

"क्यों रोते हो बाबा?"

"अपने पापों की याद करके रोता हूँ बेटी।"

"तुमने पाप कहाँ किया बाबा? सारी मिथिला तो विद्यापति ठाकुर का नामलेकर गर्व से सिर उठाती है। दिल्ली का सुल्तान ही देखो न? उसका सेनापति तुम्हें पकड़ ले गया था, किन्तु तुम्हारी सरस्वती के सामने उसकी एक न चली। जो मिथिला की प्रजा मिथिला के राजवंश की स्वतन्त्राता जाते हुए देख सकी, अपने विद्यापति ठाकुर के लिए तो वह पागल हो गई। सुल्तान को तुम्हें छोड़ना पड़ा।" पुत्री का स्वर स्फीत था। वह कहे जा रही थी, "बाबा! महामहोपाध्याय गणपति ठाकुर ही विष्णु ठाकुर कुल-परम्परा में बढ़ते हुए गौरव के प्रतिनिधि थे, किन्तु तीसरी पीढ़ी में जो कर्मादित्य ठाकुर बिसपी में आकर बसे थे, उस बिसपी ग्राम का उपार्जन करने वाले

राजपण्डित महामहोपाध्याय विद्यापति ठाकुर का यश तो दिगन्तों में फैल रहा है। फिर बाबा को इतनी वेदना क्यों हो रही है?"

बाबा ने जैसे कुछ नहीं सुना।

पूछा, "आज कौन दिन है? पूर्णिमा में कितने दिन हैं?"

"आज तो बाबा त्रायोदशी है।"

"तो फिर कार्तिक शुक्ला त्रायोदशी ही लगती है। आज ही इस दीर्घ जीवन का अन्त आ गया लगता है।"

फिर वृद्ध लेटा-लेटा सोचने लगा। मानो वह अपने-आपसे बातें कर रहा था, "राजा सिवसिंह!"

"कौन?" दुल्लहि चैंक पड़ी।

"कोई नहीं। राजा सिवसिंह रूपनारायण हैं।"

"कहाँ है बाबा!" दुल्लहि के स्वर में आतंक था।

वृद्ध ने मुस्कराकर कहा, "तो तुम आ गए मेरे वीरवर पराक्रमी रसिकशिरोमणि! मित्र, देखो न! वह सब वैभव जो तुमने दिया था वह अब कहाँ है?"

"बाबा!" दुल्लहि चीख उठी, भयार्त्त स्वर से।

बाबा चौंक उठे।

"कौन?"

"मुझे देखो, मुझे!"

"दुल्लहि!"

"आँ, ऐसे क्यों देखते हो?"

"कैसे बेटी!"

"कौन था?"

"वही, सिवसिंह राजा। आए थे। वैसे ही थे, जैसा रूप मैंने देखा था। पूछते थे: कब चलोगे कविराज?"

दुल्लहि की आँखों में पानी आ गया।

वृद्ध बड़बड़ाने लगा, "महादेव! मेरे ममत्व को भुलाओगे तो नहीं? मैं अधम पापी और परम पतित हूँ। जगत में मेरे जैसा कोई नीच नहीं हो सकता। जब मैं यमपुरी पहुँचूंगा और यम मुझसे पूछेंगे तब मैं क्या उत्तर दूँगा उन्हें? जब क्रुद्ध होकर यमराज मेरे प्राण लेने को दूतों को भेजेंगे तब मैं कैसे अपनी रक्षा कर सकूँगा?

"मेरा नाम पुनीत है किन्तु आचरण तो अपवित्र हैं।"

अत्यन्त याचना-भरे स्वर से कवि ने कहा, "देवाधिदेव! मेरे विमुख तुम नहीं हो जाना। तुम ही तो अशरणशरण हो। हे शूलपाणि! मुझ पर कृपा करो! पुष्पों को चुन-चुनकर, बेलपत्र चढ़ाकर हे महादेव! मैंने तुम्हारी सदा ही पूजा की है सदाशिव! मैंने तुम्हारी तथा सप्त गौरियों की भली प्रकार पूजा की है। किन्तु तुम तो अपने नंदी पर चढ़े सदैव ही श्मशानों में भ्रमण करते रहते हो, तुम्हें किसी कही प्रार्थना सुनने का अवसर ही कहाँ है। भांग पीने के बाद भी क्या तुम में किसी का दुख-दर्द समझने की सामर्थ्य बाकी रहती है। हे देवाधिदेव! न तो मैंने जप-तप किया है, न मैंने दान-दक्षिणा ही दी है। तुम्हारी दुहाई देकर कहता हूँ कि मेरी आयु का तीन चौथाई भाग तो इसी प्रकार खाते और सोते हुए ही बीत गया है। अब मैं भवसागर से मुक्त होने की आशा भी करूँ तो कैसे?"

कवि क्षण-भर चुप रहा। फिर कहा, "बेटी!"

"हाँ, बाबा!"

"तुझे कोई गीत याद है?"

"बहुत-से याद हैं।"

"नहीं, वह याद है?"

"कौन-सा?"

"कब मेरे दुख हरोगे भोलानाथ...आज मैं सब भूलता जा रहा हूँ...सुनना चाहता हूँ..."

"गाती हूँ।"

दुल्लहि गाने लगी :

कखन हरब दुख मोर
हे भोलानाथ।

दुल्लहि का कोमल स्वर उठने लगा।

हे भोलानाथ! हे भोलानाथ!!

मेरा दुख कब हरोगे!

सीधा ही तो प्रश्न था।

दुल्लहि गाती थी और उसे याद आ रहा था, यह गीत सारी मिथिला गाती थी।

स्वर की लोच जागी। उसने गाया:

दुखहि जनम भेल, दुखहि गमाएल
सुख सपनेहु नहीं भेल,

हे भोलानाथ...
हे भोलानाथ...

दुख में ही जन्म हुआ, दुख में ही गंवा दिया, सुपने में भी सुख नहीं मिला...

दुल्लहि का स्वर अब विनती से भर गया:

अच्छत चानन अवर गंगाजल
बेलपात तोहि देव,
हे भोलानाथ...
हे भोलानाथ...

मैं अक्षत, चन्दन, गंगाजल और बेलपत्र तुम पर चढ़ाता हूँ, मेरी पूजा को स्वीकार करो...मेरी याचना को स्वीकार करो...

दुल्लहि ने करुण स्वर से गाया:

यहि भवसागर
यहि भवसागर थाह कतह नहिं
भैरव धरू कर आए
हे भोलानाथ...
हे भोलानाथ...

इस भवसागर की थाह किसी ने नहीं पाई। स्वयं काल-भैरव भी तो असफल हो चुके हैं...

और तब दुल्लहि ने पूर्ण विश्वास से गाया:

भव विद्यापति मोर भोलानाथगति
देहु अभय बर मोहि,
हे भोलानाथ...
हे भोलानाथ...

विद्यापति कहता है कि हे भोलानाथ! मुझे तो केवल तुम्हारा ही सहारा है,मैं तो तुम्हारी कृपा से ही इस अगम भवसागर को पार कर सकूँगा। हे भोलानाथ, मुझे अभय पद प्राप्त होने का वरदान दो।

गीत धीरे-धीरे समाप्त हो गया।

कवि की आँखें एक अपूर्व उद्वेग से भर गईं। उसने शून्य दृष्टि से देखते हुए कहा, "यह झूठ है, यह झूठ है..."

"क्या झूठ है बाबा..."

वृद्ध ने कहा, "जो मैं जानता कि औढरदानी शंकर छलिया हो गए हैं तो मैं राम का गुलाम बन जाता। विभीषण ने कौन-से महान तप किए थे वह तो केवल राम का जाप करके ही पृथ्वी पर अपने जन्म-स्थान में ही अचल राज्य पद प्राप्त कर गया। और बीस भुजा, दस शीश वाले शिव के शिष्य रावण ने अपनी बीसों भुजा और दसों शीश अर्पण करके शिव की पूजा की। उसने तो ऊँच-नीच का कोई विचार न करके अपने शीश ही भेंट कर दिए थे। जिसके एक लाख पुत्र और सवा लाख नाती थे, जिसने सुवर्ण के अनेक दान दिए थे, उसका क्या अन्त हुआ? कौन नहीं जानता कि उसके घर में सर्वनाश हो गया। देवाधिदेव! क्या तुम मुझपर दया नहीं करोगे?"

बाहर पगचाप सुनाई दी।

"दुल्लहि! माँ आ गई?"

"आ गई लगती हैं।"

"उससे कहो वह स्नान करके आए। सचमुच यह संसार का समस्त भोग-विलास वृथा ज्ञात होता है। दुल्लहि! यदि किसी के माता-पिता अपने सुकर्मों से सद्गति प्राप्त करते हैं तो उनके इस पुण्य कार्य से उनकी संतान को शान्ति प्राप्त होती है।"

दुल्लहि बाहर चली गई।

वृद्ध फिर सोचने लगा। लगा सुदूर कहीं बांसुरी बज रही थी। एक-एक कर असंख्य बार बिजली-सी मस्तिष्क में कौंध गई। वह वैभव!

"कौन सिवसिंह! राजा सिवसिंह!"

"पिता!" दुल्लहि दौड़कर आई।

"बाबा! कहाँ! उठ रहे हो क्यों?"

"माँ नहीं आई?"

"नहीं आई हैं। आती होंगी।"

"तो वह किसकी पगचाप थी?"

"पता नहीं बाबा। कोई सेवक होगा।"

"सेवक नहीं। वही था वह!"

कवि पलंग से उठ गया, उसके पाँव काँप रहे थे...वह हिल रहा था...

"बाबा!" दुल्लहि चिल्ला उठी। उसने कवि को सम्भाला...

कवि बढ़ता गया...

"वह राजा सिवसिंह ही था... " कवि ने कहा फिर वह जाने किससे कहने लगा, "हाँ-हाँ...मैं आ रहा हूँ... "

"बाबा..."

"हाँ-हाँ, राजा! वह गीत...ह-ह-ह...बड़ी याद है अभी तक...लखिमा देई के पति हो न? रसिकराज...वह देखो..."

कवि ने द्वार पार कर लिया। उसकी दृष्टि अन्तराल में जैसे कुछ देख रही थी...

"बाबा! कहाँ जा रहे हो..."

बाहर धूप थी।

हठात् कवि रुक गया।

उसने कहा, "दुल्लहि..."

"हाँ, बाबा!"

"बुला तो, मेरे भोला को।"

"भोला!" दुल्लहि का स्वर गूँज उठा।

भोला भागता आया।

विद्यापति ने कहा, "जा तो, पालकी ले आ... "

भोला फिर चला गया...

"कहाँ जाएँगे बाबा...ऐसे में...आपकी तबियत अच्छी नहीं है..."

वृद्ध ने मुस्कराकर कहा, "अच्छा हो जाऊँगा बेटी..."

"नहीं पिता! आज धूप भी तो कुछ तेज़ है..."

"काल-सूर्य का ताप भी तो उससे शीतल हो जाता है मेरी बच्ची..."

"किससे बाबा..."

"पतित-तारिणी...भागीरथी से..."

पालकी आ गई। कवि पालकी में बैठ गया। दुल्लहि ने कहा, "मैं भी चलूँगी।"

"कहाँ चलेगी ममता!"

"तुम्हारे साथ!"

"कोई किसी के साथ नहीं जाता बेटी।"

"तो भी मैं चलूँगी..."

कवि ने कहा, "तो चल.."

आज कवि को याद नहीं था कि बेटी धूप में पथ पर कैसे चलेगी। वह तो ध्यान में लीन था।

पालकी चल पड़ी। कहारों के कन्धे मचकने लगे...लड़की साथ भागने लगी...

पीछे से भोला चिल्लाया, "बिटिया हो बिटिया..."

किन्तु कवि जैसे सब-कुछ भूल गया था।

उसने कहा, "गाओ रे। भार हल्का करने को गाओगे नहीं! गाओ! आज ही तो गाने का दिन है..."

"बाबा..." पीछे रह गई बिटिया चिल्लाती है...कहार भाग रहे हैं, वह सुकुमारी कैसे साथ चले...

पीछे से भोला का स्वर आ रहा है...'बिटिया होऽऽऽ बिटिया...'

'बाबा...'

'बिटिया हो...'

और पालकी के झोंके खाते हुए कवि के वृद्ध मुख से स्वर निकलता है :

बड़ सुख सार पाओल तुअ तीरे
छोड़इत निकट नयन बह नीरे...

कहार इस गीत को जानते हैं। महाकवि का यह गीत प्रसिद्ध है...

और भी लोग पथ पर सुनते हैं...

"कौन जा रहा है?"

"विद्यापति ठाकुर।"

"कहाँ?"

"गंगा-तीर पर।"

"क्यों नहीं? ऐसे महात्मा भी नहीं जाएँगे!"

"धन्य जननी जिसने ऐसा जना!"

"धन्य स्त्री जिसका ऐसा सुहाग..."

और भी बहुत-सी बातें, परन्तु अब पथ के छोरों में गूँज रहा है-

कर जोरि विनमओं बिमल तरंगे
पुन दरसन होए पुनमति गंगे...

सो हे पुण्यतोया गंगे! देख अब फिर कवि आ रहा है...फिर दर्शन करने आ रहा है...

अब पथ के लोग भी गा रहे हैं :

एक अपराध छमब मोर जानी
परसल माथ पाए तुअ पानी

हाँ, हाँ, कवि के अधरों पर मुस्कान है, उसका जल छूने तो दो...वह सारे अपराधों से क्षमा दिला देगी...वह तो सगर के 60000 पुत्रों को स्वर्ग ले गई थी...

अब दूर गंगा की धारा दीख रही है। धूप में चाँदी की धारियाँ खिंची हैं, चिलबिल, चिलबिल...बह रही है धारा...अप्रतिहत आनन्द-सी उन्मुक्त...वही शान्त गौरव-गर्भिणी मंथर गति...ऋषियों और अवतारों के पवित्र स्पर्श से और भी पुनीतकृता...

कवि देख रहा है...आँखों में चमक आ गई है...

अब पीछे से 'बिटया हो बिटिया' सुनाई नहीं देता...

अब 'बाबा हो बाबा' भी सुनाई नहीं दे रहा...

कवि का मन अलस है, निर्द्वन्द्व है, परम शान्त है...

माता जाह्नवी! उद्धारिणी...सकल पाप विनाशिनी! मैंने व्यर्थ जन्म गंवाया, अरे तुझे तो देवाधिदेव भी अपने शीश पर धारण करते हैं...

माँ...

माँ...

अनन्तकाल से भारत-भूमि की तारिणी...मकरवाहिनि मुझे भी तार दे...तू मेरी आत्मा को उस महान से मिला दे, जैसे तू स्वयं निरन्तर महासिन्धु में मिल जाती है...

अब नदी-तीर से स्वर आने लगा है...

कि करब जप-तप जोग धेआने
जनम कृतारथ एकहि सनाने...

"रोक दो पालकी!" कवि का स्वर सुनाई देता है।

पालकी रुक गई है।

कवि उतर रहा है। वह बड़बड़ा रहा है, "सचमुच! मैं क्यों भूल गया। जप-तप, योग और ध्यान क्या करेंगे? एक ही स्नान में जन्म कृतार्थ हो जाता है... "

कवि बढ़ रहा है...

अब चारों ओर से गीत उठ रहा है-

भनइ विद्यापति समदओं तोही
अन्त काल जनु बिसरब मोही...

"हाँ, हां," कवि कहता है, "वह अन्तकाल तक मुझे नहीं भूलेगी, वह मुझे नहीं भूली है...उसी ने मुझे स्वयं अपने पास बुलाया है..."

कवि बढ़ रहा है...

जल काँप रहा है, उस पर सूर्य की किरणें पारे की-सी चमक रही हैं...नयन झपक जाते हैं, फिर भी पानी काँपता रहता है...

कवि के मुख पर अतीन्द्रिय आनन्द है, नयन मुंद-से गए हैं, उसके नेत्रों में एक अद्‌भुत तृप्ति दीख रही है, अनंतकाल की पाप की भावना में से निकली हुई कोई आत्मा जैसे एक तेजपुंज में समा जाने को बढ़ी जा रही है...

सब स्थिर खड़े हैं, किसी में भी साहस नहीं है...

माँझियों के गीत की गूँज लहरों पर झूमकर आती है...

कवि बढ़ रहा है...

पीछे पुत्र हरिपति का शब्द बहुत दूर सुनाई देता है- "बा... बा..."

कवि नहीं सुनता...वह थक गया है, वह बालू में गिर गया है...बैठ गया है...सतृष्ण...दिव्य तृष्णा-भरे नयनों से वह देख रहा है-माता जाह्नवी को...

समेट लो...माँ...समेट लो..

कवि अब लेटकर खिसक रहा है-

"बा बा...हो...बा...बा..."

"माँ पतित-तारिणी ले चलो..ले चलो अब..."

उधर, मांझियों का दूसरे किनारे की ओर नाव में जाते हुए गीत का हिंडोल एक दूर की प्रतिध्वनि बनकर आता है-

कि करब जप-तप जोग धेआने...
जनम कृतारथ एकहि सनाने...

पता नहीं कब से यही विश्वास आया है और कब तक चलता जाएगा...

माँ...

लहरें गर्जन कर रही हैं...कितनी हँस रही हैं...

विद्यापति ठाकुर! विद्यापति ठाकुर! कई लोग चिल्लाते हैं, किन्तु अब लहरें शान्त हो गई हैं। केवल स्वर गूँज रहा है- "जनम कृतारथ एकहि सनाने..."

अब सब कोलाहल बढ़ गया है...

"'बा...बा होऽऽऽऽऽऽबा...बा..."

वह आ गया, वह हरिपति है...

"बाबा चले गए..."

"कहाँ..."

"गंगा आकर ले गई..."

हरिपति सुनकर उद्वेग से चिल्लाता है, "बाबा हो बाबा..."

कुछ नहीं...केवल गंगा का कलकल निनाद, केवल अजस्र निर्घोष और कुछ नहीं...

"बाबा होऽऽऽऽ बाऽऽऽऽबाऽऽऽऽ"

जब मेरी नींद खुली, तब प्रभात की पहली आभा आकाश में झलमलाने लगी थी। उठकर बैठ गया।

उस झीने अँधेरे में मैंने किसी नारी के कोमल कंठ का गीत सुना-

"विरह व्याकुल बकुल तरु तर
पेखल नन्द कुमार रे
नील नीरज नयन सयं सखि
ढरइ नीर अपार रे..."

हा हा हा! मेरा हृदय क्यों इतना व्याकुल हो गया! क्यों, मुझे ऐसा क्या हुआ? यह कैसी वेदना मेरे मन में इस तरह कसमसा रही है। वही वेदना। तब मृत्यु में, अब जीवन के स्नेह में। कितना मीठा स्वर। आत्मा की सन्धियों को आपूरित करने वाला।

मैंने आज विरह से व्याकुल नन्दकुमार को मौलश्री के पेड़ के नीचे देखा!

देखा है न मौलश्री का वृक्ष। कितना सघन श्याम! उसमें से तारकों-से झर-झर झरते कोमल चन्दनवर्णी फूल, जिनकी सुगन्ध से पवन की स्तब्धता भी लरजने लगती है, मानो वह एक वरदानों का स्रोत है जिसमें से अक्षय सुहाग बरसता रहता है। सघन पल्लवराशि कैसी मरकत और नीलम-सी दिखाई देती है। उसका गहरा कत्थई तना कितना मोहक होता है। सांझ की छाया में कोई उसके नीचे बैठे तो पता चले कि जब फूल चुपचाप झरते हैं तब सृष्टि के कितने गोपनीय सौन्दर्य अपनी सारी मधुरिमा लिए हुए आकर वहाँ सिमट जाते हैं। झरते फूलों की सुरभि मन को कितना उन्मत्त कर देती है यदि कहीं अपनी प्यास अनबुझी रह गई हो! वहीं हैं नन्दकुमार! वे ही तो हैं जो ब्रज के चितचोर हैं।

विरह व्याकुल बकुल तरु तर-

अरी सखी! मैंने स्वयं देखा है! झूठ नहीं कहती! नीले कमल के-से स्निग्ध-कोमल-लजीले लाल डोरियों वाले जो मोहक नयन हैं न उनके? उनमें से अपार नीर ढर रहा था...

हाय, हाय...छाती क्यों न फट गई...

मेरा यदुनन्दन रो रहा था...

क्यों नहीं रोएगा वह? ममता में स्थैर्य है, किन्तु प्रेम में तो आवेश भी है। ममता में त्याग की भावना भी है, किन्तु प्रेम में प्राप्ति की उमंग भी तो है। वह शिव हो, किन्तु सुन्दर तो दूसरी ही बात है। पहली दैहिक सुख के बाद की आत्मा की तृप्ति है, संबल का सन्तुलन है, दूसरी तो अल्हड़ चपलता है, देह की वासनाओं का उदात्तीकृत स्वरूप है जिसमें संबल नहीं, सहायता नहीं, समर्पण की विह्वलता है। ममता में तृप्ति है, प्रेम में कचोट। ममता में नयनों में शीतलता है, प्रेम में आँखों में आँसू। एक में दुलार की लालसा है, दूसरी में कसक की ईप्सा।

तभी स्वर आया-

पेखि मलयज पंक मृगमह
तामरस घनसार रे-

बींधती चली जा रही है यह पुकार मेरे रोम--रोम को भरती-भरती सी, ऐसा लगता है जैसे आकाश के समस्त नक्षत्र जो रात-भर आलोक बनकर जगमगाते रहे हैं, अब प्रभात के झीने अन्धकार में सब रागों की अरूप द्रवता लेकर मेरे पिंड ब्रह्माण्ड में लीन होते चले जा रहे हैं। उस स्वर को गाने वाली की विभोर तन्मयता की वेदना मेरी आत्मा की चेतना को किसी ऐसे अज्ञात सागर में डुबाए दे रही है जिसका अरूप गर्जन मेरी शिरा-शिरा में एक स्फीत स्पंदन बन गया है, जिसकी प्रत्येक हिलोर मेरे हृदय को न जाने किन अज्ञात हर्षों की संवेदना में भिगोए दे रही है। सुन रहा हूँ मैं, सुन रहा हूँ मैं...कितनी करुणा है जो विसर्जन भी करती है किन्तु मन के भीतरी स्तरों में एक अपूर्व सृष्टि का सर्जन भी करती जाती है...

स्वर आ रहा है-

निज पानि पल्लव मूंदि लोचन
घरिन पड़ असंभार रे...

वही मादक स्फुरण, वही अतीन्द्रिय प्रेरणा, मानो बगरते बसंत अब हवा पर झकोरे लेने लगे हों जिसको सूंघ-सूंघकर कोकिलों के गलों की मिठास हर एक कण में विद्युत् की भाँति झमकने लगी है...

हे सुन्दरी, तेरे मन पर धारण कराए जाने वाले अंगराग, कस्तूरी, कपूर और कमल-पुष्प आदि वस्तुओं को निहारकर नन्दकुमार दोनों हाथों से अपने नेत्रों को मूंदकर व्याकुल हो धरती पर गिर पड़े हैं...

आह! कितनी गंधित लयात्मकता है, वही अननुभूत मंद्र रागिणी... व्याकुलता की सृष्टियों के उन्मोचन...स्वरों में अतीत के चित्रों का पुनर्लेखन

हो रहा है...

मैं सब कुछ भूलता जा रहा हूँ क्योंकि मेरा गोपाल दाह से स्मरण के शूलों में कसक रहा है; मिठास की यह झलक कितनी व्याकुल कर देने वाली है...

स्वर में प्राणों की मरोड़ है...

जैसे पूर्ण चन्द्र को देखकर समुद्र में ज्वारभाटा आ रहा हो। मैं एक अक्षितिज शून्य में दिगंत-व्यापिनी श्री को अब व्याप्त होते हुए देख रहा हूँ...

जी करता है सुनता रहूँ...

सुनता रहूँ...

जीवन भी यदि एक नाद ही नहीं है तो इस जाल में फँसने की विवशता का आनन्द ही क्या है...

मृत्यु की असह यातना में भी कितना संतोष है यदि वह ऐसी एक अमर तृप्ति ही हो...

और फिर स्वर प्रतिध्वनित हो रहा है-

बहय मंद सुगन्ध सीतल
मंद मलय समीर रे...

लो, सारे मधुवन में हिलोर-सी पुलकित हो रही है। लताएँ चपल होकर झूम रही हैं। कितनी वासना है जो परागों के हिंडोलों पर चढ़कर झूल रही है...

अब तीव्र में ही स्वर की नियति तिरोहित होने लगी है...

सृष्टि के प्रथम प्रहर में मानो सारे विवर भर गए हैं, असंख्य प्रलयों का उन्माद अपनी चरम विनाशिनी सत्ता को प्राप्त करके अन्त में एक लय-मात्र बनकर रह गया है...

मन्द सुगन्धित शीतल मलयानिल बह रहा है...

मैं देख रहा हूँ, फूल कितने चपल हो उठे हैं, स्निग्ध मांसल दल कितने काँप रहे हैं, जैसे लाजवन्ती के होंठ हों...

और तब स्वर सुनाई दे रहा है-

जनि प्रलय कालक प्रबल पावक
दहय सून सरीर रे...

किन्तु अभाव की दहक में वही पवन क्या प्रलयकाल की प्रचण्ड वह्नि जैसा नहीं लगता?

अब गायिका की व्यथा चपल हो उठती है-

अधिक वेपथ टूटि पर खिति
मसृन मुकुता माल रे
अनिल तरल तमाल तरुवर
मुंच सुमनस जाल रे-

व्यथा की बेला क्या है? धैर्य ही तो है। और जब वही भग्न हो जाए तो उसकी लहरों को कौन रोके? मेरा मुरलीधर इतना व्याकुल हो उठा है कि गले की स्निग्ध मोती-माला भी टूटकर पृथ्वी पर बिखर गई है? देखो न, देखो न! जैसे वायु से आन्दोलित तरल तमाल वृक्ष से झर-झरकर फूल बिखर जाते हैं वैसे ही तो यह मुक्ता बिखर गए हैं।

और यह मैं क्या सुन रहा हूँ-

मान मनि तजि मुदित चलु जहिं
राय रसिक सुजान रे
सुखद सुति अति सरस दण्डक
कवि विद्यापति भान रे-

हे सुन्दरी, अपना मान छोड़। ओ मधुर दण्डक छंद-सी कर्णप्रिय वाणी बोलने वाली राधे! हे रसिक सुजान! अपना मान तज दे और माधव के पास चल...कवि विद्यापति कहता है-

गीत समाप्त हो गया है।

मैं चैंक उठा।

मैं किन बन्धनों में अपने को भूल गया हूँ?

मेरा माधव तो बहुत दूर है!

मुझे तो वृन्दावन लौटना है।

यह मैं यहाँ आराम पाकर क्या भूल गया हूँ कि मुझे तो भक्ति की यह बहती गंगा ही असंख्य धाराओं में बहाने के लिए चारों ओर छूटे हुए भगीरथों की भांति अपना जीवन समर्पित करना है।

उठ! मेरे मन! जाग!

चारों चरण पर स्थित धर्म के लिए गोपद कोई बन्धन नहीं है।

अतलांत का आतंक उसे ही हो सकता है, जिसको अपने पाँवों के नीचे की धरती का बोध नहीं हो।

तो चलूँ

फिर...

वृन्दावन की ओर...

वहीं, जहाँ मेरा माधव है...
जहाँ मेरी राधा विरहिणी बैठी हैं...
कब से चले गए हैं उसके प्रियतम!
बताओ न महाकवि!

स्वयं प्रियतम तो दूर देश चले गए हैं और दे गए हैं राधे को भेंट में यौवन रूपी कांटा!

आषाढ़ मास में जब नवीन मेघ चारों ओर छाते हैं तब वह प्रियतम के विरह में निरवलंब रहती है। उसे तो वे जोगिन का वेश धारण करा गए!

श्रावण मास में घनघोर मेघों से मूसलाधार वर्षा होती है, निविड़ांधकार के कारण मार्ग भी दिखाई नहीं पड़ता, चारों ओर विद्युत् कौंधती है, विरहिणी कामिनियों के जीवन कितने संकट में पड़ जाते हैं, उस समय तो वे मृत जैसी लगने लगती हैं!

हे सखी! हे सखी! सुनो न? भादों आ गया है। घनघोर घटाएँ अविरल सघन धारासार वर्षा कर रही हैं। चतुर्दिक् मयूर और दादुर शब्द कर रहे हैं। पुण्यवती स्त्रियाँ ही तो ऐसे में अपने पतियों के साथ शयन करती हैं, कि जब कभी मेघ-गर्जन होता है, या विद्युत् कौंधती है तब वे चमक-चमककर प्रियतमों की गोद में छिप जाती हैं।

हे सखी! आश्विन भी तो आ पहुँचा। सरोवरों के तीरों पर चक्रवाक मिलकर कल्लोल करने लगे। परन्तु विरहिणियों का क्या हो?

कार्तिक भी बीत चला। प्रतीक्षा के पल विरस हो गए। दीपावली की छाया के सघन तिमिर ने ही तो दुखियारी अबलाओं को घेर लिया है!

अगहन आया कि सोकर जागना और जागकर सोना, हतभागिनी के भाग्य में अब भी यही दो काम रह गए? कैसी भयानक अग्नि भीतर ही भीतर अब तो भस्म-सी किए दे रही है?

पूस के छोटे दिन और ये लम्बी रातें! प्रियतम का प्रवास! कांति नष्ट हो गई। हे भगवान! किसी को पति-वियोग न हो जाए।

हाय! माघ में यह सघन पड़ता तुषार! और भाग्यशालिनी बालाएँ झिलमिल कंचुकी पहनकर पीन स्तनों पर मणिमयहार पहने पतियों के संग सोती हैं। यह सुख तो सच क्या स्वप्न-सा नहीं है!

फाल्गुन आया! होली आई, रंग-अबीरों की मस्ती झकोरे लेने लगी। कुसुम- सौरभ से मत्त कोकिलों ने पंचम स्वर छेड़ा और विरहिणी की छाती दरक-दरक गई।

प्रियतमा के यौवन के पूर्ण विकास का मास चैत आ गया। भ्रमर फूलों पर गुंजार करते हुए मधुपान कर रहे हैं।

और जाने दो। किन्तु वैशाख तो भूने दे रहा है! हाय! पंचबाण! ऐसे न बेध! न स्नेह बिंदु वर्षा! यह स्नेह की छत्रछाया!

रंग उजड़ गए। ज्येष्ठ ने तो सब कुछ छीन लिया। अब तो पति के अतिरिक्त और कोई सहारा ही नहीं।

विद्यापति की मंगल कामना तो ले लो कि हे ईश्वर! बालाओं की आशा पूर्ण कर!

धूप अब आम के ऊपर छा गई थी।

मैं बाहर आ गया।

गृहस्वामी उद्यान में टहल रहे थे।

मैंने कहा, "अच्छा ठाकुर। मुझे आज्ञा दें। इतने दिन जो कष्ट दिया है, उसके लिए क्षमा करेंगे।"

"इसमें क्या कष्ट है? अभी रहें न? जाकर भी क्या करेंगे? सुना है प्रयाग के आस-पास मुसलमानों की बड़ी सरगर्मी है! अभी सुना है कि मालवा के मुसलमान शासकों और मुगलों में युद्ध हो चुका है। भारतभूमि तो लुटेरों का अड्डा हो गया। हुमायूँ का बेटा अकबर बड़ा प्रतापी है। जगह-जगह विप्लव हो रहे हैं। कौन जाने क्या होगा? इधर सूरी भी बदला लेने की चिंता में हैं। ऐसे में आप कहाँ जाएँगे? काज़ियों के बहकावे में आकर जगह-जगह धर्मान्ध मुसलमानों के दल के दल लूटते फिर रहे हैं।"

मैंने कहा, "नहीं, प्रभु! मेरे तो जनार्दन रक्षक हैं, यह सूरी, यह मुगल भी उन म्लेच्छों-यवनों की भाँति हैं, जो कुछ दिनों के लिए पहले आए थे और आज उनका चिन्ह भी नहीं है। भारतीय मनीषा इनके कुचले नहीं कुचली जा सकेगी। बताइए न, चार सौ वर्षों से जो भीषण विध्वंस यह बर्बर तुर्क कर चुके हैं उससे क्या हम मर चुके हैं?"

"नहीं," वे बोले, "हम फिर उठ रहे हैं और तब तक उठते रहेंगे जब तक कल्कि के रूप में स्वयं नारायण ही आकर पृथ्वी का उद्धार नहीं करेंगे।"

मैं नमस्कार करके चल पड़ा। अब मुझे लगा मेरे पीछे गृहस्वामी की दो आँखें थीं, दूर कहीं वृद्ध वैष्णव मेरी आशा में आँखें लगाए बैठा होगा...

परन्तु और भी ये दो आँखें किसकी थीं...

वही लखिमा की...

वही, जिसके कि महाकवि उपास्य थे...
दो आँखें...
उनमें पहले से कहीं अधिक तृप्ति थी...

---

1. हम जुबती पति गेलाह विदेस
जग नहिं बसए पड़ोसियाक लेस
सासु दोसरि किछुओ नहिं जान
आँखि रतौंधि सुनए नहिं कान
जागह पथिक जाह जनु भोर
राति अंधार गाम बड़ चोर
भारमहु झौरि न देअ कोतवाल
काहु क केओ नहिं करए विचार
अधिप न कर अपराधहु साति
पुरुष महते सब हमर सजाति
विद्यापति कवि यह रस गाव
उकुतिहु अबला भाव जनाव...
1. मिथिला में पिता को बाबा कहते हैं।

यात्रा का गीत

चल पड़ा हूँ फिर एक बार।

उसी ओर जहाँ कोटि-कोटि जनों का मंगल तीर्थ है, जहाँ उस लीलाधर ने जन्म लिया था, जिसे संसार में आते समय ही कारागारों में से निकलकर विद्रोह के लिए जीवित रहना पड़ा था, जिसकी क्रीड़ा के अन्तरालों में ही दुष्टों और आततायियों का दमन होता रहा था...जिसने भारत को गीता का अक्षय उपदेश दिया था...

नाव चल पड़ी है, पटना से हम पश्चिम की ओर धारा काटते जा रहे हैं...मैं त्रिवेणी पहुँचूँगा और फिर यमुना-मार्ग से सीधे वृन्दावन चला जाऊँगा...सर्वेश्वर ने ही इस भारत की पुण्यभूमि को इस प्रकार बाँध दिया है!

नाव बही जा रही है...वायु कितनी शीतल और कितनी मनोहारिणी है, पालों में हवाएँ भरे नावें बही जा रही हैं...मैं नाव में एक ओर टिका हुआ हूँ...मेरे साथ अनेक यात्री हैं...वे काशी और वृन्दावन जा रहे हैं... उन्हें राज्यों की हलचल एक ऊपरी लहर की तरह मालूम पड़ती है। वे तो किसी शाश्वत सनातन में ऐसा विश्वास रखते हैं जैसे उससे ऊपर कुछ भी नहीं। मैं सोच रहा हूँ कि यह जो मानव का विश्वास है, वही क्या उसकी जीवन्त शक्ति है, या उसका बन्धन है? कृष्ण ने तो शस्त्र उठाकर आततायी का वध किया था। यह जो असंख्य-असंख्य प्रजा है, यह कैसे इतना अत्याचार सहे जा रही है। संवाद आ रहा है कि चारों ओर विप्लव हो रहे हैं। कोई भी शक्तिशाली राजा नहीं रहा है। दिल्ली पर मुगलों का राज्य है और वे चारों ओर भयानक आक्रमण करके सब कुछ को निगल जाना चाहते हैं। हे मधुसूदन! क्या यही वह पवित्र वसुधा है जिसके बारे में कहा जाता है कि समस्त धर्मों को जनमानस अत्यन्त सहिष्णुता से, आदर की भावना से देखता था। संघर्ष होते थे, किन्तु वे अपने को ऊपर उठाने के लिए, दूसरे

को बल से नष्ट करने को नहीं। यदि ये बौद्धों की असहिष्णुता नहीं होती तो इस भारत में इतनी निर्बलता क्यों आती? किन्तु ब्राह्मण धर्म में ही कितनी फूट है। प्रत्येक जाति अपनी-अपनी रक्षा में निहित है और आततायी खूब आराम से शासन करते हैं। एक असहिष्णु धर्म के नाम पर सारी प्रजा पर कर लगाए बैठे हैं। वे भी सत्ता के लिए अपने धर्म वालों से परस्पर लड़ते हैं...।

और तभी धीरे-से मांझियों में से एक ने गाना प्रारंभ किया। मैं सोचने लगा। इतने विध्वंस में भी, इतने विलास में भी इसे सांत्वना मिली है। मुझे लगा इसका भी एक कारण था। जितना ही अत्याचार बढ़ता था, बाह्य जीवन अवरुद्ध होता जाता था, बंधन घोंटते थे, उतने ही आनन्द और विलास की भावना विद्रोह करती थी क्योंकि उसी में उसे संतोष मिलता था।

इस गीत को सुनकर एक पगड़ी वाला यात्री अब घुटनों पर कुहनियां टेके गालों को हथेलियों पर जमाकर अपनी मूंछों के नीचे मुस्करा रहा है। उसके माथे पर रामानन्दी तिलक है। उसके पास बैठी वृद्धा एक शून्यदृष्टि से नदी की विस्तृत धारा को देख रही है। कौन जाने वह क्या सोच रही है। शायद सोचती है कि इस धारा पर न जाने किस आदिकाल से कितनी नावें चल चुकी हैं और इसी प्रकार चलती रहेंगी...

मांझी गाता है-

चिकुर निकट तम-सम

पुनु आसन पुनिम समी,[1]

सब उसे देखते हैं, सबके नयनों में आशा है, रूप का उल्लास उतरा आ रहा है। प्रेम और स्नेह की धारा में अब रूप ही माध्यम बनकर नाव बन गया है, पार उतारने वाला, जितना ही आततायी का खड्ग उठता है, जितनी ही जीवन की यात्रा कठिन होती जाती है, जितनी ही वर्तमान की परिस्थिति दुख देती है, पारस्परिक संबंधों में जीविका के लिए संघर्ष और वैमनस्य जन्म लेता है, जितने ही समाज के, धर्म के बंधन कचोटते हैं, उतनी शक्ति से आबालवृद्ध, धनी-दरिद्र, ऊंच-नीच में एक नयी चेतना जाग रही है, वह है समानता-परमात्मा के सामने समानता, जिस देवता से भय किया था अब मनुष्य उसके प्रेम का भूखा हो गया है। अब मनुष्य के नयन निरंतर सौंदर्य के स्वप्न से भरे रहते हैं। मनुष्यों की लुटती हुई यह

भीड़ें अपना शाश्वत मानदण्ड उन स्थायी मूल्यों में ढूंढ़ रही हैं जिनसे मानवता जीवित रही है और रहेगी...पता नहीं मैं ही ऐसा सोचता हूं या और भी लोग ऐसा सोचते हैं...

वही स्वर-

चिकुर निकट तम-सम
  पुनु आनन पुनिम-समी
नयन पंकज के पतिआओत
  एक ठाम रहु बसी-[1]

सब मुस्कराते हैं। लावण्य की अपनी प्रभा होती है और उसके आलोक में मनुष्य के न जाने कितने कोने उजागर हो जाते हैं...

ओ हो! अब नदी में कैसी रोर उठी। सारे मांझी एक साथ गा उठे-

आज मोयं देखलि बारा
लुबुध मानस, चालक नयन
कर की परकारा...[2]

इतनी विह्वल कर देने की शक्ति है रूप में। कान्ह मांझी के हाथ की मांसपेशियां फूल रही हैं, गिर रही हैं, नाव में एक युवती ने मुख तिरछा करके लज्जा और गर्व से कनखियों से देखकर पांव का नाखून देखा है, एक बालक ने वृद्धा के कंधे पर का वस्त्र हाथ की छोटी-सी मुट्ठी में भर लिया है। स्वर बड़ा भारी है...अब आकाश में बादल दौड़ रहे हैं, श्वेत से, मैले से, कुछ नीले, कुछ ऊदे, कुछ श्याम...सफेद पक्षी उड़े जा रहे हैं, पांत की पांत...तीर पर दूर किसान काम कर रहे हैं...उनके खेतों को आततातियों के घोड़े रौंद जाते हैं, फसलें सो जाती हैं, धरती से उगे कन फिर धरती में मिलकर मिट्टी हो जाते हैं, श्रम व्यर्थ नहीं चला जाता, दारिद्रय की लात पेट पर मारकर मृत्यु के जाल में फेंक जाता है, किन्तु पीढ़ी नहीं मरती, फिर इधर मनुष्य उठते हैं, इधर फिर धरती में से कन निकलते हैं, उत्थान और पतन का एक निरंतर प्रयोग-सा चल रहा है-जैसे बहुत दूर-दूर तक घास है, कांस है, हवा आती है सब सो जाते हैं, हवा निकल जाती है सब उठ खड़े होते हैं, कभी-कभी आग आती है तब यह कांस धू-धूकर जलती चली जाती है, किन्तु फिर पानी पड़ता है और फिर नये कांस लहलहा उठते हैं, लुटेरे इन्हें काट-काटकर अपने छप्पर सजाते हैं, फिर भी वे इन्हें खाकर समाप्त नहीं कर सकते, इनकी जड़ को नहीं

काट सकते क्योंकि इनका धरती से संबंध है, और हाय, कैसी दीनता है कि यह कटते रहते हैं? क्यों नहीं यह उठ पड़ते? उठेंगे। आत्मा का बल तो नहीं खोया है न? वह बल कहां है? वह अंतरात्मा में है, रूप और प्रेम में है। हममें शक्ति नहीं है, किन्तु इस शक्ति के स्वप्न के लिए जीवित रहते हैं, हम असंगठित हैं, परस्पर लड़ते हैं, किन्तु हम सदैव एकता और प्रेम के स्वप्न का दीपक हृदय में संजोए रहते हैं...वह सब एक अयथार्थ है, यथार्थ है मनुष्य के ही सुनिश्चित उज्ज्वल भविष्य की कामना में जीवित रहना। हम कलियुग में फंस गए हैं, किन्तु हमारी मनीषा अब पहले से कहीं अधिक बार ईश्वर को धरती पर लाती है, क्योंकि ईश्वर एक व्यक्ति से एक सृष्टि का संबंध है। वह हमारे प्रेम और आनन्द, सौंदर्य और वासना, हमारी शाश्वत रागात्मकता का प्रतीक हो गया है, वह अब हमारी ही भांति हो गया है, इस स्वप्न को कौन-सा बर्बर तोड़ सकेगा? हर गुलाब को कुचलकर धरती में फेंकते समय याद रखो कि उसका शव धरती में अपने बीज ज़रूर छोड़ जाता है और वे अवश्य उगते हैं...

फिर रामेत मांझी अकेला गा रहा है-

सहज सुन्दर गोर कलेबर
पीन पयोधर सिरी,
कनक लता अति विपरित,
फरल जुगल गिरी...[1]

सारे मांझी गाते हैं-

फरल जुगल...फरल जुगल..
फरल जुगल गिरी...
ईऽऽऽऽऽ....
ईऽऽऽऽऽ...

और तब...
सहज सुन्दर...
नया आवेश भर कर...
गोर कलेबर...
बड़ी रसपीनता आई है स्वर में...
पीन पयोधर सिरीऽऽऽऽऽ...
ओहो! देखना कैसी लचक भर आई...

कनक लता...
और उसके साथ अब मुस्कान है...
और विपरीत...
भारी स्वर, नयी स्फूर्ति...
फरल जुगल...
अभी बार और...
फरल जुगल...
अब अन्तिम झटका और लय...
फरल जुगल गिरीऽऽऽऽऽ...

सब कुछ विचित्र हो गया है न? उसे समझने के लिए कल्पना के पक्षियों को बहुत बड़े आकाश में उड़ना है, किन्तु वे पक्षी उड़ते हैं और फैल जाते हैं; उनकी समझ में आता है..यह उनकी अपनी भाषा है, जीवित संस्कृति को जन-मानस चाहिए, वह केवल पण्डितों के घरों की वस्तु बनकर कब तक रह सकेगी...

अब फिर मेरा स्वप्न जाग उठा है।

वीणा बज रही है। उसके धीमे-धीमे स्वर तमालों के नीचे तिरोहित हो रहे हैं।

एक अपूर्व सुन्दरी चली आ रही है। उसे देखकर लगता है जैसे देह रूपी कनकलता के सहारे निष्कलंक चन्द्रमा का उदय हुआ हो। उसके कमल के समान दोनों नेत्र तो अंजन-रंजित हैं और भौंहें बड़ी ही कुटिल तथा भावयुक्त हैं। उनकी चंचलता को देखकर लगता है जैसे विधाता ने चक्रवाक मिथुन को केवल अंजनगुन के पाश में बांध रखा हो। उसके उत्तुंग कुचों को छूती हुई गजमुक्ताओं की माला गले में पड़ी है। ऐसा लगता है जैसे कामदेव कण्ठ रूपी शंख में भरकर गंगा की निर्मल धारा को सुवर्ण के शिवलिंगों पर डाल रहा है।

एक व्यक्ति उपवन में मानसरोवर के विशाल पत्तों के पीछे खड़ा फव्वारे के पास से उसे देख रहा है। उसके नेत्र अपलक हो गए हैं।

तरुणी अब मल्लिका के समीप आ गई है। फिर बढ़कर वह उपवन के पक्के कुण्ड में खिले कमलों को देखती हुई बैठ गई है।

वह व्यक्ति देख रहा है।

जहां-जहां वह युवती पग रखकर आई है, अभी तक व्यक्ति को वहां कमल झरते हुए दिखाई दे रहे हैं। जहां-जहां उसके अंग झलकते हैं, वहां-वहां बिजली की तरंग दिखाई दे रही है। जिस ओर वह देख लेती है वहां कमल के फूल खिल उठते हैं। जिधर वह मुस्कराती है, उधर ही अमृत की वर्षा हो उठती है, जिधर उसका कटाक्ष हो जाता है उस ओर कामदेव के पुष्पबाण पूरे वेग से चले जाते हैं।

युवक आगे बढ़ता है।

युवती चौंक उठती है।

युवक मुस्कराता है, युवती भी।

युवती प्रणाम करती है, युवक उसके हाथों को अपने हाथों में लेता है।

दोनों एक-दूसरे की ओर देखते रहते हैं।

देर तक नयनों की तृप्ति अन्तस् के द्वारों को खोलती चली जाती है। हठात् निस्तब्धता में कोई पक्षी मधुर स्वर से बोलता है। युवती चौंक उठती है।

बाहर कहीं तूर्य-निनाद होता है।

"महाराज," युवती कहती है, "मेरे महाराज!"

"मेरी लखिमा! रानी!"

फिर दोनों एक परिरंभन में बंध जाते हैं।

एक मंदिम पगचाप सुनाई देती है।

दोनों अलग होते हैं।

"कौन?"

"देवी! कवि ठाकुर आए हैं।"

"कौन विद्यापति ठाकुर?"

"हां, देवी!"

"आज यहां क्यों?"

"देवी! मैंने कह दिया, किन्तु वे नहीं सुनते हैं।"

"तूने क्या कहा?" महाराज पूछते हैं।

"मैंने कहा: कवि ठाकुर! आप तो राजपण्डित ठहरे। फिर न जानेंगे कैसे? महाराज आज कई दिन के बाद तो युद्ध से आए हैं, वे आज पूर्ण विश्राम करना चाहते हैं।"

"ऐसा कहा तूने?"

"हां, देव! कवि ठाकुर ने कहा, तो पूछकर आ कि क्या तेरा कवि ठाकुर महाराज के पूर्ण विश्राम में एक व्याघात तो नहीं है?"

"तूने तब क्या कहा?"

"पूछने आ गई।"

महाराज सोचते हैं, फिर कहते हैं, "कवि को बुलाकर ले आ यहीं।"

"यहीं?" महारानी कहती हैं। नयनों में कुछ विस्मय है।

"तुम उसे नहीं जानतीं, देवी! एक बार उसके कण्ठ-स्वर को सुनना तुम्हारे जीवन को सफल बना सकता है।"

"किन्तु महाराज यहां? अभी पूर्णिमा का चन्द्रमा उदित होने वाला है, चारों ओर आनन्द ही आनन्द छाएगा, ऐसे समय मैं अपने और आपके बीच में किसी को भी नहीं देख सकती। यदि आप उन्हें बुलाएं तो मैं समझूंगी आप मुझे नहीं चाहते।"

राजा देखता है।

रानी कहती है, "मैं केवल देह ही तो नहीं हूं। आत्मा भी तो हूं। मेरी भी तो कुछ लालसाएं हैं। इस वैभव में न होकर एक दरिद्र की स्त्री होती तो कम से कम मैं स्वतन्त्र तो होती। यहां चारों ओर मेरी आत्मा घुटती है, किसी से बात तक नहीं कर सकती!"

राजा सोचता है। वह इसे प्रेम करता है किन्तु नारी का अविश्वास भी विचित्र है। वैभव की भी अपनी मर्यादाएं हैं। वह मर्यादाएं ही ऐसे बंधन हैं जो उस वैभव के द्वारा प्राप्त अधिकारों के फल हैं, वे अधिकार औरों के अधिकारों से कहीं अधिक हैं। कोई चाहे कि इधर वैभव के सुख भी ले लूं उधर संसार के अन्य आनन्द भी लूट लूं, यह कैसे सम्भव हैं। यह कहती है कि यह देह नहीं है, किन्तु यदि पुरुष नारी को उसके देहत्व का आभास न दिलाए, तो क्या वह सचमुच पुरुष के आत्मिक दुलार के बल पर जीवित रह सकती है? यदि पुरुष केवल आत्मा का सम्बम्ध रखे तो वह फिर कहती है कि तुम मुझसे दूर-दूर रहते हो। पता नहीं विधाता ने स्त्री को किस क्षण में बनाया था। सब कुछ छीन लेने वाला प्रेम क्या पुरुष को निरीह ही नहीं बना देता। राजा होने में, प्रजा का कार्य करने में समय जाता है। स्त्री कहती है कि पुरुष केवल आनन्द के समय में स्त्री की खोज करता है, अपने काम के समय वह उसे बिल्कुल भूल जाता है, जबकि स्त्री काम करते समय भी पुरुष का ध्यान रखती है। राजा नहीं सोच पाता। स्त्री सोचती है, सदा ही पुरुष के विषय में, सम्भव है। उसका केन्द्र भी तो

परिवार ही है, पुरुष का केन्द्र परिवार नहीं, समाज है। पुरुष को कितने सुख-दुःख देखने पड़ते हैं तब किसी प्रकार वह जीवित रहने के संघर्ष में परिवार की नौका को खेकर निकालता है, स्त्री पुरुष के इन कार्यों को नहीं देखती, वह अपने ही स्वार्थ में मग्न रहती है।

राजा को सोचते हुए देखकर कहती है, "चलिए अब फिर वही दुःख-चिन्ता! समझ में नहीं आता, आपको क्या हो जाता है? कितनी आशा करती थी कि आएंगे, तब हम आनन्द मनाएंगे, और यहां कोई हमारे बीच में आ ही जाता है। इससे तो अच्छा यही था कि मैं मर जाती!"

राजा आंख उठाकर देखता है।

नारी! और क्षुद्रत्व! और वह भी प्रेम के आवरण में।

दासी पूछती है, "तो देव! कह दूं वे चले जाएं?"

रानी कहती है, "कह दे, फिर कभी आएं।"

राजा रोकता है, "क्या कहती हो? वह विद्यापति ठाकुर है। कुल-परम्परा से हमारे राज्य के विद्वान परिवार का अति योग्य पण्डित है।"

"हमारे यहां के पण्डित तो राजाज्ञा से ही चलते हैं महाराज," रानी कहती है, "राज ही तो सर्वोच्च होता है। राज की बात आप मुझसे नहीं करते, क्योंकि मैं स्त्री हूं। फिर क्या रह गया देव! और प्रेम भी आप तब ही करते हैं जब आपको राज से अवकाश मिलता है। मैं तो मानो कुछ हूं ही नहीं!"

"तो फिर तुम चाहती क्या हो?"

"वह तो शायद आप कभी समझेंगे नहीं। मेरी तो सारी आशाएं चली गईं।"

पुरुष का मन कचोट खाता है। वह कहीं इस सबसे दूर हो जाना चाहता है। कहता है, "वैभव चाहती हो, अधिकार चाहती हो, वह सब लेकर वह सब देना नहीं चाहतीं, जिनसे वैभव और अधिकार मिलते हैं। लोकहित में जीवन-दान देने वाले प्राणी की वैयक्तिकता कितनी सीमित हो जाती है यह तो जानती हो न?"

"क्या जानती हूं, क्या नहीं, यह मेरा ही हृदय जानता है। आप तो मुझे अबोध और मूर्ख समझते हैं। फिर आप मुझसे बड़े हैं, योग्य हैं, तो कुछ सिखाते क्यों नहीं?"

एक और दासी आकर कहती है, "विद्यापति ठाकुर चले गए हैं।"

राजा के नयनों में रोष झलकता है, किन्तु वह उसे पी जाता है। उसे लगता है जैसे उसके और कला के बीच में नारी एक व्यवधान बनकर खड़ी

हो गई है।

राजा की चेतना में विष-सा भर गया है, जो उसे झुलसा रहा है। सामने चन्द्रमा उग रहा है, किन्तु उसमें कोई जादू नहीं है। और स्त्री खड़ी है अवरुद्ध-सी, विधाता को शाप देती हुई-सी। राजा बैठ जाता है। रानी पास आती है। दासियां चली गई हैं, एकांत है।

स्त्री रोती है।

राजा नहीं समझता।

वह कारण जानना चाहता है।

वह देखता रहता है...

देखता रहता है...

मल्लिकाओं में से गंध आ रही है...

कहीं मन्दिर में घण्टा-निनाद हो रहा है...

जीवन एक बोझ-सा है...

रानी अब रो चुकी है...

स्तब्ध बैठी है...

राजा उठ खड़ा होता है...

वह द्वार पर जा पहुंचता है...

रानी मूर्च्छित हो जाती है...

दासियां जागती हैं...

राजा चला गया है...

बाहर के विशाल प्रांगण में विदूषक खड़ा है।

पूछता है, "महाराज! आज दो-दो चन्द्रमाओं को छोड़कर कहां जा रहे हैं?"

महाराज का मन स्थिर नहीं है। भर्राए स्वर से कहता है, "पिंगल! जिस प्रकार दो दर्पण एक-दूसरे से चिपकाकर धर देने पर उनकी कोई भी पीठ बिम्ब ग्रहण नहीं करती उसी प्रकार मेरे मन में अंधकार छा रहा है।"

विदूषक कहता है, "महाराज! एक चाकू लेकर दोनों की बारी-बारी से पीठ रगड़ना प्रारम्भ करें न?"

"तो भी बिम्ब नहीं दीखेगा पिंगल! केवल उनको आर-पार ही तो किया जा सकता है..."

विदूषक हतप्रभ होता है। कहता है, "तो देव! फिर एक ही को रगड़िए न?"

वह समझता है राजा हंसेगा। परन्तु राजा बाहर की ओर बढ़ता जा रहा है। उसने कहा है, "तो फिर दो में से किसको रगड़ना होगा!"

विदूषक अपना उपहास खो चुका है। राजा चला गया है। अब विदूषक को वामन और नपुंसक ने घेर लिया है और वे उसे छेड़ रहे हैं, किन्तु ब्राह्मण विदूषक का वास्तविक रूप गम्भीर है। वह उन्हें छोड़कर राजा के पीछे चल पड़ता है।

बाहर पूछता है, "महाराज कहां गए?"

"कमल-तड़ाग की ओर।"

कमलों से तड़ाग भरा है। एक ओर के शान्त निर्मल जल में आकाश का पूरा चन्द्रमा उतर आया है और राजा निर्निमेष दृष्टि से देखता हुआ बैठा है।

विदूषक समीप जाता है।

राजा नहीं देखता। वह विचार-मग्न है।

विदूषक कहता है, "देव!"

"कौन?"

"मैं हूं, विदूषक!"

"बैठो।"

विदूषक बैठता है।

राजा नहीं बोलता।

विदूषक कहता है, "महाराज! आज विद्यापति ठाकुर आए और चले गए!"

राजा मुड़ता है। उसकी आंखों में एक विशाल शून्य है। नारी का कौन-सा रूप है। राजा सोचता है। अच्छा होता मैं एक किसान होता। तब यही लखिमा मेरे हल जोतकर खेत में खड़े रहते समय सिर पर मट्ठा और रोटी लेकर आती। उस समय किसान अपनी भूख मिटाता और कार्यलीन रहता। स्त्री अपने सामाजिक कार्य करती। स्त्री जब आनन्द में लीन रहती है तब उसकी क्षुद्र वासनाएं अधिक भड़क उठती हैं और कठोर जीवन से वह बचने का प्रयत्न करती है। उस समय उसके मन में हलाहल जन्म लेता है। उसे लगता है वह सब-कुछ खो रही है। पुरुष की वासना उतनी जघन्य नहीं होती जितनी स्त्री की। स्त्री अपनी वासना पर लज्जा का छद्म चढ़ाए रखती है और इसलिए वह बहुत ही भयानक होती है, क्योंकि पुरुष कैसा भी छलिया हो, उसकी वासना सरल होती है, नारी की वासना की भांति गूढ़ और रहस्यमयी नहीं होती।

विदूषक देखता है। वह नहीं समझता। उसका कार्य हास-परिहास है, परन्तु वह एक अत्यन्त चतुर व्यक्ति है। उसे परिस्थिति को बनाते रहने का गुरुतर कार्य सम्भाले रहने पर ही प्रशंसा मिलती है।

और राजा को लगता है कि वह एक विशाल वन में फंस गया है। वह एक सुन्दर हिरण की आंखों पर मोहित होकर बाण धनुष पर चढ़ाए उसके पीछे भागा था। किन्तु वन के बीहड़ में उसने देखा कि वह जो दूर से हिरण लग रहा था। वास्तव में एक इच्छारूप सिंहनी थी जिसके मुख पर अब एक विचित्र व्यंग्य-भरी मुस्कान थी।

राजा सिहर उठता है।

विदूषक देखता है। कहता है, "महाराज!"

राजा चौंकता है।

देखता है।

फिर मानो पहचानता है।

और उसकी आंखों में प्रश्न झलकता है।

"देव! कवि ठाकुर ने बुरा माना होगा न?"

"हां।"

"फिर?"

राजा कहता है, 'विदूषक! तुम हास्य के सखा हो न?"

"हां, महाराज!"

"किन्तु मूर्ख तो नहीं हो?"

"देव! सच कहूं। मूर्खता का बाना धारण करने पर ही तो राजा-महाराजाओं से भी जो चाहे कह सकता हूं। यदि मूर्ख न बनकर दार्शनिक का दिखावा किया होता और सम्मान की खोज की होती, तो क्या यह ग्रीवा कन्धों पर दिखाई देती?"

राजा सिर हिलाता है।

विदूषक फिर कहता है, "मनोरंजन एक महान प्रेषणीयता रखता है। जो काम सहज हो सकते हैं वे तर्क से नहीं हो सकते, क्योंकि तर्क की नींव में सदैव अहं होता है और वह कभी सत्य को नहीं पकड़ता, वह तो एक कुठार की भांति होता है।"

राजा सुनता है।

विदूषक गम्भीर है।

राजा कहता है, "और क्या यह सत्य नहीं है कि मनुष्य समुदाय में राजा होता है एक, क्योंकि धर्म उसे चाहता है।"

"हां, देव!"

"वह लोक का त्राता, एक पदाधिकारी मात्रा है न?"

"हां, महादेव!"

"पृथ्वी कभी स्वामीहीन नहीं रह सकती। राजा का पुत्र कर्मयोग से राजा बनता है न?"

"सब यही कहते हैं।"

"तो ठीक यही न प्रमाणित हुआ कि जिस प्रकार वैद्य का पुत्र वैद्य होता है उसी प्रकार..."

विदूषक हंसता है।

"हंसते क्यों हो?"

"सोचता हूं, कोई नई औषधि निकाली है!"

"अभी नहीं।" राजा कहता है, "सुनो तो। बताओ न? और कवि का पुत्र कवि हो सकता है?"

"नहीं।"

"कवि कैसे पैदा होता है?"

"देव! पूर्वजन्म के पुण्य से।"

"वे कौन-से पुण्य हैं!"

विदूषक अवाक् देखता है।

"सुनो विदूषक!"

"महाराज!"

"जब से कवि ने देशी भाषा में कविता कहनी प्रारम्भ की है तब से तो एक अद्भुत माधुर्य आ गया है उसके काव्य में। तुमने सुना है?"

विदूषक कहता है, "क्यों नहीं देव! उनकी कीर्त्तिलता मैंने पढ़ी है।"

"अरे वह किशोरावस्था की रचना थी। जब उसीने मिथिला को चमत्कृत कर दिया तब अब तो यौवन है कवि में। प्रगाढ़ मादकता है, अतीन्द्रिय सुख! वह अवहट्ट भाषा थी, अब तो वह लोकभाषा में ही कवित लिखने लगा है। सच विदूषक। मैं उसका मित्र होने में गर्व का अनुभव करता हूं।"

"आप महाराज होकर? उसके अन्नदाता होकर?"

"हां, विदूषक! अन्न तो भगवान देता है। यह देश तो ऋषियों की पवित्र भूमि है। यहां सदा से ही विद्वानों का समादर रहा है। जानते हो, जब-जब

स्मरण करता हूं कि आज से दो सौ वर्ष पूर्व उस बर्बर बख्तियार खिलज़ी ने नालंदा के विशाल पुस्तकालय को जला दिया था, तब-तब मेरा हृदय भीतर ही भीतर सुलग उठता है। मिथिला स्वतन्त्र है। यहां तो कवि का पूर्ण आदर होना चाहिए। और कवि भी कैसा? विद्यापति-सा!"

राजा अपने-आप बड़बड़ाने लगा-कैसा लिखा है, मुझे तो याद हो गया है-हे माधव! जहां प्रेम-रस होता है वहीं प्रेम-कलह भी होता है, परन्तु गुणवान व्यक्ति एक बार प्रीति-भंग हो जाने पर पुनः प्रीति करते हैं। हमने तो सर्वत्र ही ऐसी रीति होती सुनी है कि हार के बार-बार टूट जाने पर भी उसे फिर गूंथ लिया जाता है।[1]

राजा के नयन कुछ विभोर-से दिखाई देते हैं। वह कहता है, "विदूषक!"

विदूषक शायद कुछ और सोच रहा है।

वह हठात् चिहुंककर कहता है, "हां, देव!"

राजा कहता है, मानो उसका ध्यान इस सब पर है ही नहीं:

"भनइ विद्यापति न कर उदास
बड़क वचन करिए बिसवास।"

"तुमने सुना। विद्यापति क्या कहता है। बड़ों के कहने का विश्वास करो। कितनी सरलता से वह कितने गूढ़ तथ्यों को यों ही कह जाता है! और तुमने उसकी यह अत्यन्त सुन्दर रचना सुनी है?

की हम सांझक एकसरि तारा
भादव चौठिक ससी
रथि दुहु माझ कओन मोर आनन
जे पहु हेरसिन हंसी!

"आह रे! क्या मैं संध्या की अकेली तारिका हूँ कि जिसे कोई भी नहीं देखना चाहता, या मैं भाद्रपद की शुक्ला चतुर्थी का शशि हूं जिसे देखने से ही कलंक लगता है? मेरा मुख इन दोनों में से किसका-सा है कि तुम उसे हंसकर देखते तक नहीं।

"विदूषक! मैंने कहा, 'इससे आगे क्यों नहीं कहते कवि!' बोला, 'अभी स्फुरण नहीं हुआ महाराज!' मैंने कहा, 'होगा कविराज! होगा!' "

विदूषक के नयनों में चिंता आती है और फिर एक उजाला-सा क्षण-भर चमकता है।

वह कहता है, "महाराज!"

"क्या है?"
"प्रासाद से कवि लौट गया है!"
"हां।"
"अब?"
"ब्राह्मण ही बताए।"
"वह क्या स्वयं लौटेगा?"
"नहीं देवता।"
"किन्तु लक्ष्मी की सभा से सरस्वती का चला जाना क्या इस प्रकार हमारी राज्यश्री का अपमान नहीं है!"
"निश्चय है!"
"तो महाराज को जाना होगा।"
"कहां?"
"बिसपी।"
"किन्तु बिसपी भी राजा की है। कवि का सत्कार कहां हुआ? कवि का अपना राज्य भी होना चाहिए न?"
"देव! मैं यही कहने वाला था।"
"तो फिर बिसपी का दानपत्र तैयार कराओ। मैं ही उसकी सूचना लेकर जाऊंगा। विद्यापति ठाकुर चाहे जिस राज्य में भी चला जाए, सारे राजा उसके लिए द्वार खोल देंगे।"
"और अधिक इसलिए भी कि इसमें हमारा अपमान भी कर सकेंगे।"
राजा के मुख पर व्यंग्य दिखाई देता है। वह कहता है, "मेरे स्वतन्त्र राज्य का अपमान वे तुर्कों के दास करेंगे? सिवसिंह रूपनारायण की भुजा जब खड्ग उठाती है..."
"तब वे गीदड़ों की भांति कांपने लगते हैं महाराज! किन्तु जब सूर्य चला जाता है तब गीदड़ कब हुंआ-हुंआ नहीं करते?"
राजा मुस्कराता है।
दोनों प्रसन्न होते हैं।
"उठिए देव!" विदूषक कहता है, "जब हीरक-जटित अंगूठी उंगली पर चढ़ जाती है जब लोक यही कहता है-हीरे वाली अंगूठी, देह वाली नहीं।"
राजा प्रसन्न होकर उस पर गलहार फेंक देता है।
बिसपी के पथों पर रथ जा रहे हैं। घोड़ों की अयालें हवा में फरफरा रही हैं। उनके शरीरों पर सुनहला साज है।

लोग पथों के दोनों ओर खड़े चिल्ला रहे हैं:
"महाराज सिवसिंह की जय!"
"महाराज रूपनारायण की जय!"
एक भवन में उदास कवि विद्यापति बैठा है।
एक युवती समीप खड़ी है। वह उसकी स्त्री है।
पूछती है, "कब तक बैठे रहोगे?"
कवि कुछ नहीं कहता।
"राजा राजा ही होता है।"
कवि सुनता है।
"तुम केवल कवि ही हो न?"
कवि देखता है।
"कवि राजा का आश्रित होता है।"
कवि चुप है।
"भट्टि, दण्डि, कालिदास, बाण, चंदवरदायी..."
कवि नहीं सुनना चाहता।

वह कहे जाती है, "सब ही अपने-अपने आश्रयदाताओं की प्रसन्नता देखकर चलते थे। तुम्हें विधाता ने गुण दिया है। उसका अनुचित अभिमान न करो। घड़े में रखे दीपक की ज्योति बाहर नहीं फैलती। मैंने तो न जाने क्या-क्या आशा की थी कि लोग विद्यापति का नाम सुनकर सिर झुकाते होंगे। अपार वैभव होगा। विद्यापति ठाकुर बड़े सरल होंगे।"

"मैं सरल नहीं हूं?"
"मैंने कब कहा!"
"तो फिर तुम कहना क्या चाहती थीं?"
"तुम कभी नहीं समझोगे।"
"तुम्हें किसी का कष्ट है?"
स्त्री कहती है, "तुम क्या मुझे धन की प्यासी समझते हो?"
"फिर तुम्हारे कहने का मतलब ही क्या है?"

"तुम तो मुझे मूर्ख समझते हो, जैसे मैं किसी भी उत्तरदायित्व को उठाने के योग्य ही नहीं।"

"कौन-सा उत्तरदायित्व उठाना चाहती हो?"
"मैं तो कुछ भी नहीं चाहती। अब से तो मैं बोलूंगी ही नहीं कुछ।"
कवि नहीं समझ पाता।

स्त्री कहती है, "मैं कहती हूं, तुम्हारे पास खाने को नहीं है क्या? राजा के पास जाने की आवश्यकता ही क्या है? अरे जो है उसी में गरीबी में दिन काट लेंगे।"

गरीबी। कवि सोचता है। घर में दास हैं, दासियां हैं। फिर भी गरीबी! खेत हैं, सब कुछ है। कैसी है यह स्त्री! वह फिर कहती है, "सोचती थी आभूषणों से लदी रहूंगी, पर नहीं हैं तो मैं क्या मांगती हूं। ऐसे ही अच्छे हैं हम! हैं न?"

कवि का मन विक्षुब्ध हो रहा है।

स्त्री फिर कहती है, "पहले तुम संस्कृत के ग्रंथ लिखते थे, सम्मान था। अब क्या देशी भाषा के गीत लिखने लगे हो। जिनके लिए लिखते हो वे क्या कुछ समझते हैं?"

"तो क्या तुम मुझे चाहती हो कि मैं परिपाटियों में ही पड़ा रहूं? तुम मुझे काव्य-क्षेत्रा में भी सलाह दोगी?"

"मैं क्यों दूंगी? मैं क्या पढ़ी थोड़े ही हूं। मैं जानती हूं, तुम मन ही मन मुझसे इसलिए घृणा करते हो। तुम्हें तो किसी पंडिता से विवाह करना चाहिए था, जो तुम्हारे कार्य में तुम्हारी सहायता भी करती। मेरा क्या है। दासी हूं। पड़ी रहूंगी। तुम्हें चिन्ता करने की आवश्यकता भी नहीं पड़ेगी। मुझे कुछ जरूरत होगी तो मैं तो मां के घर से मंगा लूंगी। आखिर तो उसने मुझे जनम दिया है!"

कवि के पास इन तर्कों का उत्तर नहीं है। वह नहीं जानता इस बवंडर के मूल में क्या है? महत्त्वाकांक्षा? यश और सम्मान की भूख, या वैभव की लालसा? फिर साथ ही त्याग की भावना का छल क्यों?

वह चुप बैठा रहता है।

स्त्री कहती है, "मैं कहती हूं, मुझे क्षमा कर दो? तुम्हारे सिवाय मेरा है ही कौन? स्त्री हूं, अबला हूं। तुम जैसे कहोगे वैसे ही चलूंगी। मेरी उपेक्षा न करो। स्त्री सब कुछ सह सकती है किन्तु यह उपेक्षा नहीं। अपमान मुझे बुरा नहीं लगता, वह तुम कर सकते हो, परन्तु मुझसे घृणा मत करो।"

कवि का संसार लुप्त हो गया है।

"मैं लिखना चाहता था।" कवि कहता है।

"तो लिखो न?"

"अब नहीं लिख सकता।"

"क्यों?"

कवि नहीं बोलता। स्त्री कहती है, "कहते क्यों नहीं, मैं तुम्हारे काम में एक बाधा बन गई हूं। है न यही बात? हाय रे मेरे भाग्य! किसी साधारण पुरुष से विवाह होता तो अपनी छोटी-सी गिरस्ती में स्वामिनी तो होती? यहां तो सब-कुछ होने पर भी कुछ नहीं है! जो कुछ सुख था, वह तो बचपन में ही भोग लिया। अब क्या रखा है!"

"तो अब क्या तुम्हें कुछ दुख है?"

"जाने दो, अब तो इस बात को यहीं समाप्त कर दो।"

"तुम्हीं ने तो कहा था कि तुम्हारी आशाएं नष्ट हो गई हैं..."

"छोड़ो न? उसके लिए मैं तुमसे क्षमा मांग तो चुकी हूं। तनिक भी मज़ाक तो तुम समझते ही नहीं। न जाने मुझे कितनी बार रुलाना तुम्हें अच्छा लगता है, मुझे लगता है मैं तो पागल हो जाऊंगी..."

स्त्री रोने लगती है।

पराजित-सा कवि उठता है। यह बाहर आता है। द्वार पर कोलाहल हो रहा है।

"महाराज सिवसिंह की जय!"

"महाराज रूपनारायण की जय!"

"महाराज सिवसिंह रूपनारायण की जय!"

कवि देखता रह जाता है।

हां, सामने महाराज ही हैं।

"स्वागत महाराज!"

"प्रणाम ब्राह्मण," महाराज कहते हैं।

"सुदामा के घर? आज स्वयं महाराज कृष्ण!"

विदूषक कहता है, "कलियुग का फेर है न कवि! कब तक मुरारी बैठे रहते कि सुदामा आए, आए। और जब नहीं ही आया तो क्या करते?"

कवि अवाक् हैं। पलकें भीग जाना चाहती हैं।

विदूषक ताम्रपत्र पढ़कर दे रहा है।

गांव के भद्र और साधारण पुरुष जयजयकार करते हैं:

"महाराज सिवसिंह रूपनारायण की जय!"

"विद्यापति ठाकुर की जय।"

जय! जय!

धूलि! धूलि से भी ऊपर जय!

धूलि! धूलि के अंतराल में लय!

धूलि! धूलि के नीचे स्नेह का अपराजित संचय!

गांव के लोग प्रसन्न! अकारण ही प्रसन्न। ग्राम विद्यापति को मिला है। किन्तु वे अत्यधिक गद्गद्! क्योंकि अब विद्यापति बहुत बड़ा आदमी है। बड़ा आदमी देता कुछ नहीं, फिर भी लोक रहता है विनीत और मगन। केवल दो-चार ईर्ष्यालु हैं। एक फुसफुसाता है, "कोई गड़बड़ जरूर होगी।" "अरे भैया! कोई यों घर आकर नहीं दे जाता!" "और फिर क्या विद्यापति ठाकुर में गणपति ठाकुर की-सी मेधा है!" "वे तो और ही बात थे।" "पर राजा भी तो असली गुणी थे।" "सिवसिंह का क्या?" "नाम करना चाहते हैं अपना।" "राजा भोज कहलाना चाहते हैं! वाह-वाह! जैसे कि नये भोज! तैसे ही नये कालिदास!" फिर एक हास्य, बड़ा धीमा, किन्तु बड़ा विषैला।

उधर राजा कहता है, "कवि!"

"महाराज! पधारें।"

वे भीतर जाते हैं। साथ में विदूषक भी।

"कवि!" महाराज आसन पर बैठकर कहते हैं, "मेरी मिथिला सूनी हो गई है।"

मिथिला का इन सबको बड़ा अभिमान है। यह सीता की जन्मभूमि है। यह जनक की शासन-भूमि है, उस जनक की, जो विदेह कहलाता था। यह याज्ञवल्क्य की भूमि है, जिस पर एक समय ब्रह्मचर्चा हुआ करती थी।

"क्यों महाराज?" कवि पूछता है।

"कवि तो अनेक हैं देव!"

"मेरा शेखर, मेरा पुनीत कहां है?"

"वह तो अकिंचन है महाराज!"

"वही तो अभिनव जयदेव हैं।"

अभिनव जयदेव!!

जय जगदीश हरे...

जय जगदीश हरे...

ललित लवंगलता परिवशीलन
कोमल मलय समीरे-

और कवि ने गाया था-

सरस वसंत समय भल पाओल
दखिन पवन बह धीरे-

"चलना होगा कवि!" विदूषक कहता है।
कवि की ओर देखकर महाराज के स्वर निकलते हैं:

की हम सांझक एकसरितारा
भादब चैठिक ससी
रथि दुहु माझ कओन मोर आनन
जे पहु हेरसि न हँसी।

हठात् कवि गाने लगता है-

साए साए कहह कन्हु
कपट करह जनु
कि मोरा भेल अपराधे...

कहीं एक कोने में कोई जल्दी-जल्दी लिख रहा है। वह कवि का लेखक है, सतत उद्यत और तत्पर...

राजा के नयनों में आनन्द फैल गया है, विदूषक के होंठों पर तृप्ति की मुस्कान है। कवि भूल गया है...

न मोयँ कबहु तुअ अनुगति चुकलिहुँ
बचन न बोलल मंदा
सामिसमाज प्रेम अनुरंजिए
कुमुदिनि सन्निधि चंदा।[1]

कवि चुप हो गया है।
राजा पूछता है, 'और आगे?"
कवि नहीं बोलता।
"तो फिर चलो। वहीं पूर्ण होगी।"
"वहां मुझे आपने नहीं रुकवाया?"
"नहीं।"
"तो?"
"लखिमा देई ने।"
"महारानी ने!"
"हां, मित्र!"
"क्यों देव?"
"नारी का स्वभाव!"

अपनी स्त्री की कवि को याद आती है। वह कहता है "किन्तु नारी तो राधा थी!"

विदूषक कहता है, "कवि और राजा दोनों सुनें। पुरुष की कल्पना की नारी, इस पृथ्वी पर घूमती ही नहीं। पुरुष अपनी कल्पना में केवल अच्छा चित्र बनाता है, किन्तु नारी के ऐहिक रूप में रहने वाली लालसा, तृष्णा, वासना और उसके अहं को छोड़ देता है, इसीलिए वह भूल जाता है। स्त्री की खुशामद करने से ही निस्तार होता है।"

राजा कहता है, "अच्छा! आज तुम्हारी सफलता का रहस्य जाना।"

'महाराज! कहते हैं, प्राचीनकाल में मगध में एक नंद नामक राजा था। उसका एक शकटार नामक मंत्री था। एक रात शकटार की स्त्री रूठ गई। शकटार ने पूछा, 'तू कैसे मनेगी?' उसने कहा, 'जो तू सिर मुड़ा कर आए तो मैं मनूं।' शकटार ने सिर मुड़ाकर उसे प्रसन्न किया। राजा नंद की भी स्त्री रात में रूठ गई। राजा ने पूछा, 'तू कैसे मनेगी?' वह बोली कि तू अपने मुंह में घोड़े की लगाम डाल और मैं तुझे चलाऊं। चलते में तू घोड़े की तरह हिनहिनाता रहियो। राजा ने यही किया। प्रातःकाल सभा में शकटार के मूड़े सिर को देखकर राजा नंद ने कहा, 'कहो अमात्य, सिर कैसे मुड़ाया। घर में सब कुशल तो हैं?' अमात्य मन ही मन लज्जित हुआ, किन्तु वैसे बड़ा चतुर था। तुरन्त बोला, 'महाराज! रात मैंने स्वप्न में देखा कि एक स्त्री अपने वीर पति के मुंह में लगाम डाले चला रही है और वह बिचारा हिनहिनाता भाग रहा है। इसी की लाज में मैंने तो सिर मुड़ा डाला!'"

तीनों हंसते हैं।

विदूषक फिर कहता है, "कामिनी है न महाराज! उसमें जो मान होता है न देव! उसे पुरुष समझेगा? उसे तो स्त्री ही वृद्धा हो जाने पर नहीं समझ पाती! कामी उस नारी के मान का दास बन जाता है। योगी उसे देखकर भाग जाता है। आनन्द भी लेती है, किन्तु पुरुष को स्वार्थी कहती है और मातृत्व में तो उसने बड़ा ही भारी अहसान मानो पुरुष पर लाद दिया हो! बिचारा गृहस्थ! क्या-क्या झेले! क्या-क्या न झेले!"

तीनों फिर हंसते हैं।

कवि-पत्नी सुन रही है। क्रोध से होंठ काटती है। सोचती है, ग्राम क्या मिल गया, इन्होंने सब-कुछ उगल दिया होगा? नहीं तो राजा और विदूषक को क्या पता चलता! देखूंगी, मैं तो जानती ही थी कि मुझसे मन ही मन

घृणा करते हैं! हाय, विधाता, तूने मुझे स्त्री क्यों बनाया, जो मैं इतना सब-कुछ करके भी ऐसी निराश्रित हूं।

किन्तु वह क्या जाने बात लखिमा की हो रही है।

कवि-पत्नी सोच रही है, आज प्राण ही त्याग दूंगी।

किन्तु कवि चला गया है। उसे राजा ले गया है।

राजधानी में हलचल व्याप गई है।

"राजा ने बिसपी दे दिया।"

"किसको!"

"विद्यापति ठाकुर को!"

"धन्य है।"

"क्या धन्य है? वाह! क्या न्याय है?"

यों मिली-जुली बातें। घात-प्रतिघात।

राजोद्यान सज रहा है। आज भी पूर्णिमा का-सा ही चंदा निकलेगा। उतना ही विशाल। कुछ छोटा हो जाएगा, किन्तु दिखाई नहीं देगा वह भेद!

लखिमा सुन रही है।

दासी सिर पर चंदन-जल छिड़क रही है।

महारानी को कभी-कभी मूर्च्छाआ जाती है।

वह पूछती है, "तो महाराज, आज पुष्करोद्यान में ही रहेंगे? मल्लिका कुंज में नहीं आएंगे?"

"लगता तो ऐसा ही है, देवी!"

एक और दासी अरगजा-लेप कर रही है।

हठात् रानी कहती है, "मैं शृंगार करूंगी। मैं भी चलूंगी वहीं। अब नहीं सहा जाता।" दासियां जाती हैं।

रात हो गई है। लो, वह लाल-सी चमक झाड़ियों के पीछे कैसी है? अरे वही तो चन्दा है। अजीब-सा है न! लाल! जैसे पिघलता-तपता हुआ सुवर्ण। कितना सुन्दर है। अब वह धीरे-धीरे आकाश में ज्योतिपिण्ड की भांति चढ़ता जा रहा है, और पता नहीं, क्यों समस्त वसुंधरा दूध से नहाई जा रही है!

अब वसंत का आनन्द थिरकने लगा है।

चारों ओर अबीर और गुलाल उड़ रही है। सुन्दरियां चलती हैं तब पायलों की झनक-झनक से दिगंतों में वासना गमगमाने लगती है।

राजा बैठा है।

कवि गा रहा है।

ऋतुराज के आगमन से वृन्दावन मानो नवीन हो उठा है। नये-नये वृक्षों में नवीन पुष्प खिले हैं। नया ही वसंत है, नवीन मलयानिल बह रहा है और नये भ्रमरों के झुण्ड मस्ती से पागल हो उठे थे। नये प्रेम में बेसुध होकर नवलकिशोर कृष्ण यमुना-तीर पर सुशोभित सुन्दर नवीन कुंजों में विहार कर रहे हैं। आम्र की नवीन मंजरियों के मधु को पीकर मत्त हुई कोकिला कुञ्जों में कूक रही है। सारी नवयुवतियों का चित्त भी प्रेम-रस से उन्मत्त हो उठा है और वे नवीन प्रेमरस की खोज में कुंज की ओर जा रही हैं। इसी मस्ती से विभोर वातावरण में नवलकिशोर और नागरि किशोरी भांति-भांति से मिलकर आनन्द मनाते हैं। कवि विद्यापति की मति इस मादक आनन्द से प्रेरित होकर इच्छा करती है कि वे दोनों ऐसी ही क्रीड़ा नित्य ही किया करें।

चारों ओर आनन्द छा गया है। ऐसा लगता है जैसे लता और वृक्षों ने मंडप जीत लिया है और चन्द्रमा की निर्मल ज्योत्स्ना ने चारों ओर उज्ज्वल प्रकाश विकीर्ण करके मानो भीतों पर सफेदी कर दी है। सरोवरों में पड़े पद्मनाल के जाल ही विवाह के इस अवसर में निर्मित किए गए ऐपन के चैंक हैं और वृक्षों के कोमल लाल-लाल किसलय ही प्रकृति के परिधान हैं। आज विवाह की लालसा से ही ऋतुराज वसंत अपना पूर्ण शृंगार करके वनस्थलीरूपी वेदी पर आ गया है। सुहागिनों की भांति भ्रमरियां मंगल-गान कर रही हैं। वरराज वसन्त ने पुष्पों के मकरन्द को हस्तोदक बनाया है और चन्द्रमा अभिन्न मित्र-सा आ गया है। मन को प्रफुल्लित करने वाला मन्द समीर चारों ओर लहरा रहा है। चम्पा और पलाश के सुनहले तथा माधवी लता के श्वेत पुष्प के स्तबक मानो तोरण हैं और बेलवृक्ष से निरन्तर झरते पुष्प हैं धान का लावा जिन्हें पृथ्वी पर बिखेरा जा रहा है...अनन्तयौवना प्रकृति को सुनहले केशर-कुसुम मिले हैं सिंदूर से और वसन्त को बालाओं का मान। यह तो कामदेव का कौतुक ही जो ठहरा।

युवतियां, तरुणियां, लोक-लाज त्यागकर नाच रही हैं। आज व्यापारी-श्रेष्ठ वसन्त राजवर के रूप में जो आ गया है। सुलक्षण नारियां, हस्तिनी, चित्रिणी, पद्मनी, श्यामा, वयस्का, नव बालाएं मिलकर मंगल कार्य में रत हो गई हैं। सबने श्रृंगार किया है, कोई रेशमी सुन्दर वस्त्र धारण किए है, कोई अपनी शंख-सी सुन्दर ग्रीवा पर मालाएं डाले हैं। किसी ने चन्दन घिसकर कटोरे में रखा है और कोई सुहागिन आंचल में कपूर और पान

भरे खड़ी है। किसी के शरीर पर मले केशर की गंध आ रही है और किसी की मोतियों से भरी मांग पर आलोक झिलमिल कर रहा है। विभोर हो रहा है नृत्य।

राजा कुसुम्भा पी रहा है।

अब नृत्य में वसन्त का स्वागत हो रहा है...

नवीन कोमल पल्लवों का आसन बिछा दिया गया है, श्वेत कमलों से मंगल कलश की स्थापना की गई है।

नर्तकी नृत्य कर रही है। पुष्पों से टपकता पराग अब उसकी मुद्राओं में गंगा-जल की भांति बह रहा है और दीप बुझाने के लिए बढ़े हाथों ने हठात् अशोक की कोमल लाल-लाल पत्तियां हिला दी हैं...

तो वह वसन्त को चूम रही है...

चन्द्रमा है कि जमाया हुआ दही और भ्रमरी कैसी नाइन-सी घूम-घूमकर सारे नागरिकों को न्यौता दे आई है। वृक्षों के किसलय से रेशमी दुकूलों पर केतकी का पराग मांगलिक छींटों-सा लग रहा है...

कवि ने देखा। बाईं ओर झाड़ी के पीछे क्लांतवदना कोई एकाकिनी खड़ी थी। कवि ने सहसा गाना प्रारंभ कर दिया:

कोलाहल करता हुआ मलयानिल दसों दिशाओं में बह रहा है अतः हे सखी! वाद न कर। साधन नहीं रहा तो मन्मथ ने मानिनियों के मन को ही नीरस कर दिया। हे सखी! शीत और वसंत में विवाद हो गया है। कौन करेगा उनकी जय-पराजय का निर्णय? लो! दोनों ने चुना है दिवाकर को और महापंडित द्विजवर कोकिल को साक्षी। उसने तो कह भी दिया है। दिवाकर का निर्णय है। नवीन किसलय ही जय-पत्रक हैं, उन पर भ्रमर पंक्तियों से लिखे हैं ये अक्षर! वादी वसंत से प्रतिवादी शिशिर भयभीत हो गया है और तभी तो वह ओस की बूंदों के रूप में प्रकट हुआ है। कुंद के सुन्दर कुसुम खिले हैं और कैसे प्रयत्न से वसंत विजयी हुआ। कवि विद्यापति गाता है, राजा सिवसिंह इस रस को जानते हैं।

अचानक उस क्लांतवदना के अश्रु गालों पर टपक पड़े हैं। कवि देखता है। सब विभोर हो रहे हैं। चांदनी में दीपमालिकाएं कितनी सुन्दर लग रही हैं?

ध्वनि आती है-द्रिगि द्रिगि धौद्रिम द्रिमिया...

यह लो, नृत्य प्रारंभ हो गया है। वही रास, आनन्द, करताल सम पर उठते हैं। मृदंग बजने लगा है। मादल बोलता है...डिमडिम उफ डिमिक

डिम। मंजीरों से स्वर आता है, रूनझुन, रुनझुन...किंकिणियां रणन करती हैं, वलयों से कनकन की झंकार झूमती हैं। मधुवन में तुमुल रास हो रहा है। बीन और मुरज बज रहे हैं-सा रे ग म प ध नि सा..सा रे ग म प ध नि सा-आरोह और अवरोह के स्वर गूंज रहे हैं...स्वर मंडल में राव हो रहा है...श्रम से स्वेद ने नर्तकियों को भिगो दिया है, उनकी कवरियां चंचल होकर खुल गई है, गलों में पड़ी मालती की मालाएं टूटकर मानो मोती बिखेर रही हैं।

और कवि गाता है:

हे मानिनी! अब मान करना उचित नहीं है। इस समय तो ऐसा लग रहा है जैसे कामदेव सोते से जाग उठा हो। कैसी शीतल रात्रि है। चन्द्रमा झकाझक चमक रहा है। ऐसा समय फिर नहीं आने का। इस अवसर पर प्रियतम से मिलने में जो सुख है, उसे तो वही जान सकता है, जिसने इसका कभी अनुभव किया हो?

झाड़ी के पीछे नारी के मुख पर एक शांति छा गई है। कवि तन्मयता से गा रहा है...

रभसि रभसि अलि
विलसि विलसि करि
करए मधुर मधु पान,
अपन अपन पहु
सबहु जेमाओलि
भूखल तुआ जजमान।[1]

नारी मुस्करा उठती है, मानो उसकी चेतना में कोई सौम्यता भर गई है। अब उसका वह कुंठित अहं नहीं है सामने...वह धीरे-धीरे गल रहा है...

कवि गाता है-हे सखी! तेरी त्रिबली की छवि ऐसी सुन्दर है मानो त्रिवेणी की ताल तरंग में गंगा-यमुना का संगम हो रहा है और संगम-स्थान पर उरज रूपी शंभु की स्थापना की गई है। हे बाले! तेरा व्याकुल प्रिय इस तीर्थराज के संगम पर तुझसे दान मांगता है। तू उसे अपना सर्वस्व दान कर दे।

हे बाले! मन की दशा बड़ी चंचल होती है। वह दीप की लौ की भांति कभी स्थिर नहीं रहता। तू अपने ज्ञान को सावधान कर। कवि विद्यापति कहता है कि अधिक संचित काम-पीड़ा बड़ी दुखदायिनी होती है...

नारी बाहर आ गई है। उसके सिर पर इस समय फूलों की मालाएं हैं और हाथों में कुसुमों के आभूषण!

"कौन! महारानी!" वृद्ध मन्त्री चमत्कृत-सा धीरे से पूछता है।

"हां।" सेनापति कठोर - भ्रूचालन करके स्वीकार करता है...

महारानी कहती है, "कवि ठाकुर!"

"महारानी!"

"क्या यह वासना ही नहीं है?"

सेनापति प्रसन्न है, मंत्री भी।

किन्तु ठाकुर कहता है, "अनादि काल से यह सृष्टि शिव और पार्वती और राधा-माधव की क्रीड़ा से ही जीवन और शक्ति ग्रहण करती रही है। नारी का रूप ही समस्त संप्रदायों में अपनी साधनाओं का उद्गम रहा है। महाशून्य की कल्पना का लौकिक आनन्द इसीलिए स्त्री-पुरुष-मिलन के सुख की चरमासक्ति में गिना गया है। महारानी! इसी आनन्द की अनुभूति में महाकवि कालिदास ने नारी को पार्वती के रूप में देखा था और उस उदात्त भूमि तक लाने के लिए जिसमें वासना अपने नग्न और पूर्ण रूप में होते हुए भी कल्मष से परे होती है; नारी की क्षुद्रता को हटाने के लिए महाकवि ने उससे तप करवाया था, जिसके कि फलस्वरूप वह अन्ततोगत्वा परमशिव पर लौकिक सर्जन के देवता काम के माध्यम से उसके अनंग बन जाने पर भी प्रेम के बल पर विजय प्राप्त कर सकी। जो इस लोक की व्याप्ति में परमात्मा के प्रसादों में काया को भूल जाता है और आंगिक सुख से अलग करके आत्मिक सुख को देखता है, वह वास्तव में सत्य को नहीं देखता। वासना को केवल अंग-चेष्टाओं में ही समाप्त करना तो वज्रयानियों और वाममार्गियों का काम है। किन्तु वामा से परे तो योगी भी नहीं, क्योंकि वे वामा को कुण्डलिनी के रूप में देखते हैं। वासना एक सत्य है और वह एक लीला है, जिसकी वेदना में भी मिठास है, यदि वह प्रेम की विभोरता में तल्लीन है। यही तो राधा-माधव शिव-शिवा की भूमियों का प्रसाद है।

राजा सिवसिंह तल्लीन बैठा है। महारानी कहती है, "महाकवि ठाकुर! आप अमर होंगे, आप शाश्वत रहेंगे। आपने मेरे मन का संशय मिटाया है। वे इसी मार्ग से मिल जाते हैं न?"

नारी आँखें उठाती है।

उन आँखों में गर्व है, आनन्द है, तृप्ति है, विभोरता है, वासना है, स्खलन का सुख है, माधुर्य है, अमर प्रतीक्षा की दुरूहता है, प्राप्ति को असीम बनाकर दूर से देख लेने की क्षमता है। वे आँखें देखती हैं, वे आँखें नहीं देखतीं। इनमें लज्जा भी है, समर्पण भी है, एक गोपनीयता है, एक रहस्य है, और फिर मुखरता भी है। अरूप की मूर्त्तिमती सत्ता उनमें आराधना का केन्द्र बन गई है, वैसे वे एक महाशून्य-सी हैं जिसकी समता के लिए महापण्डित और महायोगी व्याकुल हो रहे हैं। इस क्षण जैसे उस स्थान से क्षुद्रता, अहं और नीचता का तिरोधान हो गया है। वे आँखें हैं कि युगांतरों में गूंजने वाली मुरारी की बेसुध कर देने वाली बांसुरी की तान का मोहक सम्मोहन बरौनियों की छाया बनकर आत्मलय की पुतलियों में साकार जीवन की धारा को धीरे-धीरे स्पंदित कर रहा है।

कवि देखता है।

महामन्त्री नहीं समझता। न सेनापति समझता है।

किन्तु राजा सिवसिंह समझ रहा है। वह चुप है, शांत!

सभा विसर्जित हो गई है।

पंडित और विद्वानों में बातें चल रही हैं।

पक्षधर मिश्र कहते हैं, "कवि ठाकुर मेरे सहपाठी ठहरे!"

"क्या बात है!" नीलाम्बर कहते हैं-"तभी तो देसी भाषा का ठाठ बांधा है। वाह, क्या कविता है!"

"संस्कृत तो अच्छी जानते हैं?" रत्नाकर मिश्र कहते हैं।

"जानते क्यों नहीं हैं?"

"फिर क्यों श्रम का नाश करते हैं?"

"अरे भाई! संस्कृत तो पुरुषों की वस्तु है।"

"तो मिथिला के पुरुषों के लिए वे लिखते कहां हैं?"

"वे तो स्त्रियों के लिए लिखते हैं।"

"हाहाहाहाहा..."

"खूब कहा..."

"कुछ झूठ है?"

"शिव शिव!"

"झूठ का क्या काम?"

"किन्तु यह तो अच्छा नहीं।"

"राजा ही जाने।"

"राजा से क्यों न कहें!"

सभा हो रही है। कवि भीतर जाने वाला है।

सहसा दासी आकर कहती है, "कवि ठाकुर! महारानी बुलाती हैं इधर!"

कवि जाता है।

"प्रणाम, कवि ठाकुर!"

"सौभाग्यवती रहें, देवी!"

"आप जानते हैं?"

"क्या महारानी!"

"आज पंडितों ने आपके विरुद्ध अभियोग लगाया है।"

"मेरे विरुद्ध! क्यों?"

"वे कहते हैं अवहट्ट तक तो ठीक था, किन्तु यह जो गंवारों की भाषा में विद्यापति कविता कहते हैं, वह क्या राजसभा के गौरव को गिराने वाली बात नहीं है?"

"देवी क्या कहती हैं?"

"मैं?"

"हां, देवी!"

लखिमा नहीं बोलती। केवल देखती है। अब कवि के मानस में वे आँखें उतर गई हैं।

"कवि ठाकुर," लखिमा कहती है, "मुझे तो उन्हीं कविताओं में अपने जीवन की सार्थकता दिखाई देने लगी है।"

कवि का हृदय हिलोरें भर रहा है।

दासी कहती है, "चलें कवि ठाकुर! महाराज बैठे हैं।"

"चलता हूं।"

"जाएं।" लखिमा कहती है, "एक दिन अवश्य ही मनुष्य आपके गीतों में राधा-माधव के प्रेम की अमरता को देखेगा।"

"आपको विश्वास है, देवी!"

"है, कवि ठाकुर।"

कवि मुड़कर कहता है, "चल।"

दासी आगे चलती है।

सभा में सब दिग्गजों की भीड़ है।

महाराज कहते हैं, "कवि ठाकुर! तुमने सुना?"

"क्या देव?"

"लोग कहते हैं कवि ठाकुर की भाषा ग्रामीण है।"
"मैं भी ग्रामीण हूं, देव!"
"किन्तु अब तो नागरिकों में हैं।" सेनापित कहता है।
"हां, परन्तु मेरी कविता इतने-से घेरे के लिए ही तो नहीं है न? राधा-माधव की लीला-सभाओं के लिए, मनुष्यमात्र के लिए है न?"
कोई उत्तर नहीं दे पाता।
"सुना आप लोगों ने? कवि ठाकुर क्या कहते हैं?" महाराज कहते हैं।
विद्यापति गर्व से कहता है, "महाराज! गर्वोक्ति न हो तो कहूं? आज्ञा है?"
"निर्भय!"
"तो सुनें। बालचन्द बज्जावइ भासा, दुहुं नहिं लागइ दुज्जनहासा।[1] यह मैंने बहुत प्रारंभ में कहा था।"
"यह आपका किस पर आक्षेप है?" सेनापति कहता है।
"आप ही क्यों यह सुनकर कुद्ध हैं?" कवि पूछता है।
वृद्ध मंत्री को हंसी आती है, मुंह फेर लेता है। सब मुस्करा जाते हैं।
सभा विसर्जित हो जाती है।
कवि लौट रहा है।
एक माधवी कुञ्ज के पीछे एक स्त्री खड़ी उसे अपलक निहार रही है।
दासी कहती है, "महारानी!"
स्त्री नहीं चौंकती।
पूछती है: "क्या है?"
"देवी! नील-कमलों का हार गूंथ दूं?"
"हां, गूंथ दे।"
"महाकवि गए देवी!"
"चले गए!"
"बुलाऊं?"
"नहीं। कवि बार-बार नहीं बुलाए जाते। वे तो देवता के समान होते हैं।"
"देवता!"
"हां, री!"
'कवि ठाकुर तो कहते हैं कि हमारे महाराज शिव के अवतार हैं।"
"तो अवश्य हैं।"
"क्यों देवी?"

"कवि ठाकुर जो कहते हैं। वे तो भगवान हैं?"

दासी नहीं समझती।

"मैं जाऊं, देवी?"

'तू जा!"

"आप चलेंगी!"

"तू चल।"

दासी चली जाती है।

महारानी खड़ी देखती रहती है। अब कवि नहीं दीख रहा है, किन्तु वह इसी पथ से गया जो है।

वृद्ध मंत्री का रथ धीरे-धीरे जा रहा है। नदी-तीर पर मांझी गा रहे हैं- जिसका मन जिस पर अनुरक्त होता है वह वहीं घुस-पैठ करता है। चाहे जितने यत्न के मन को बांधकर रोक रखो वह तो उसी ओर दौड़ पड़ता है, बिल्कुल उसी प्रकार जैसे नीचे स्थान में पानी स्वतः भर जाता है। कवि विद्यापति कहता है कि इस रसरीति को केवल लखिमा देवी के प्राण-वल्लभ, समस्त गुणों की खान महाराज सिवसिंह ही जानते हैं।

वृद्ध मंत्री कहते हैं, "अरे विश्वनाथ!"

"हां, महाराज।" सारथि कहता है।

"क्या गाया, इसने क्या गाया?"

"ऐं, महाराज!"

"ये लखिमादेवी का नाम लेता था न?"

"हां, प्रभु!"

"बुला तो इसे।"

"प्रभु! वह कवि ठाकुर का गीत गाता था।"

"कवि ठाकुर। कवि ठाकुर क्या लखिमादेवी का नाम भी गीतों में जोड़ रहा है कि राह-बाट के लुच्चे ऐसे गंदे गानों में मिथिला के कुलीन राजवंश की महारानी का नाम जोड़ते हैं?"

"नहीं प्रभु!"

"क्या नहीं प्रभु? मैंने सुना है न?"

"हां, प्रभु!"

"लौट चल। मैं महाराज से कहूंगा।"

रथ लौट आता है।

द्वार पर सेवक झुकते हैं।

"आज्ञा प्रभु!"
"महाराज हैं भीतर?"
"हैं प्रभु!"
"क्या करते हैं?"
"कवि ठाकुर से गीत सुनते हैं। लखिमादेवी भी हैं।"
वृद्ध मंत्री के पांव ठिठकते हैं। वे लौटते हैं।
"सूचना दे दूं, प्रभु!"
"नहीं।"
"क्यों प्रभु...! मिलेंगे नहीं!"
"फिर मिलूंगा। मुझे गीतों का नहीं, राजकाज का काम है।"
"यहां तो प्रभु!" सेवक लाचारी की मुद्रा दिखाता है। जैसे यहां तो बहुत बुरा काम हो रहा है किन्तु मैं क्या करूं!
वृद्ध चला जाता है। तब वह अपने साथी से कहता है, "बूढ़ा बड़ा खिसिया रहा है। कवि ठाकुर ने तो मज़े बांध दिए। क्या कविता लिखी है...
वह धीरे-धीरे गाता है:

अंगने आओब जब रसिया
पलटि चलब हम इषत हँसिया।
रस नागरि रमनी
कत-कत जुगति मनहि अनुमानी।

वह उठता है और फिर कुछ नृत्य-सा करता है-

आबेसे आँचर पिया धरबे।
जाएब हम न जतन बहु करबे।
कँचुआ धरब जब हठिया
करे कर बाँधब कुटिल आध दिठिया।

सब प्रसन्न होते हैं। वह फिर गाता है:

रभस माँगब पिया जबहि
मुख मोड़ि विहँसि बोलब नहि नहि।
सहजहि सुपुरुख भमरा
मुख कमलक मधु पीअब हमरा।
तखन हरब मोर गेआने
विद्यापति कह धनि तुअ धर धेआने।[1]

उसी समय सेवक मुड़कर देखता है और 'बाप रे बाप' कहकर सामने के कुंज में जा छिपता है। वृद्ध मंत्री क्रोध से देख रहे हैं, वे गाना सुनकर लौट आए हैं।

"क्या देख रहे हैं, महामंत्री!" एक गंभीर स्वर सुनाई दिया है। वह वृद्ध राजपुरोहित हैं।

वृद्ध मंत्री को बोलने में समय लग रहा है।

"आपने सुना!" वे कहते हैं।

'क्या?"

"यही, जो वह गा रहा था?"

"वही क्या गा रहा था? मिथिला ही जो गा रही है। उसी का क्या दोष है?"

"तो क्या यह ठीक हो रहा है?" मंत्री कहता है।

"भगवान जाने।"

"आप धर्म की स्थापना करते हैं। ब्राह्मण शास्त्र की मर्यादा देता है! आप क्यों चुप हैं? यह जो वासना का नग्न ताण्डव हो रहा है, वह क्या ठीक है?"

"ठीक कहां है?"

"फिर उसका उपाय?"

"कोई नहीं।"

"क्यों?"

"क्योंकि पहले राजा ही विद्यापति ठाकुर के प्रशंसक थे, अब तो कवि रानी के भी उपास्य हो गए हैं।"

"यह आप क्या कह रहे हैं?"

"राजपुरोहित होकर क्या इतना भी नहीं जानूंगा कि क्या कह रहा हूं।"

"किन्तु राजा राजनीति से दूर हुए जा रहे हैं।"

"प्रेम-रस की यही तो बात है महामंत्री! हम और आप तो अब वृद्ध हो गए हैं न?"

वे हंसते हैं।

वृद्ध मंत्री नहीं हंसते।

उनके मन में दावानल सुलग रहा है। वे नहीं समझ पाते।

रथ पर लौटते हैं।

मार्ग में किसान खेतों में गाते हुए सुनाई देते हैं:

सुनु रसिया

अब न बजाऊ विपिन बंसिया...

वे नहीं सुनना चाहते किन्तु ध्वनि फिर भी कानों में पड़ रही है। वे मन ही मन कहते हैं:

भज गोविंदं,
भज गोविंदं,
गोविंदं भज
मूढ़मते...

किन्तु मन नहीं लग रहा है...

सुनाई देता है...

अनुभव ऐसन सदन भुजंगम
हृदय मोर गेल डसिया...

फिर वही कामदेव भुजंग बन गया। हृदय को डस गया! अनाचार...

भज गोविंदं,
भज गोविंदं,
गोविंदं भज
मूढ़मते...

और फिर स्वर सुनाई देता है:

विद्यापति कह...

वही विद्यापति!

जिधर देखो विद्यापति!

मिथिला पागल हो गई है?

हां, मिथिला पागल हो गई।

रात हो गई है।

दासी कहती है, "देवी! सोई नहीं?"

"नींद नहीं आ रही है।"

"क्यों देवी?"

"पता नहीं।"

"आज वृद्ध मंत्री कुद्ध होकर कहते थे..."

"क्या कहते थे?"

"मिथिला पागल हो गई है।"

"क्यों भला?"

"जिधर देखो वहीं विद्यापति गूंज रहा है।"

"सच!"

और वही आँखें फिर चमक उठती हैं...
वही आँखें, समुद्र के कूलों-सी, अथाह तरंगों वाली...
"मालती कहां है?"
"बाहर है देवी!"
"उसे बुला तो।"
मालती आती है।
"मालती!"
"हां, देवी!"
"तू गाती है बहुत सुरीला।"
"कहां देवी, मैं तो..."
"तो गा न? सखि की पुछति..."
मालती बैठ जाती है। तानपूरा छिड़ता है। एक वीणा मिलाती है। मंदारिका मृदंग संभालती है।
मालती गाती है। गीत के विभोर स्वर फूट निकलते हैं:
हे सखी! प्रेम के क्षेत्रों में मेरे अनुभवों को मुझसे क्या पूछती हो? प्रीति और अनुराग की बातें तो वही बता सकता है जिसने क्षण-क्षण पर प्रेम के नये-नये अनुभव ग्रहण किए हों।
मालती का स्वर अत्यन्त मधुर हो जाता है:

जनम अवधि हम रूप निहारल
नयन तिरपति भेल
सेहो मधु बोल स्रवनहि सूनल
स्रुति पथ परस न भेल।
रानी झूम रही है।

क्यों न झूमे! जनम अवधि तो रूप देखा, और नयन तृप्त ही नहीं हुए। वही मीठे बोल सुनते जीवन निकल गया किन्तु कभी कानों की तृप्ति नहीं हुई।
रूप भी, माधुरी भी। कितनी डुबान, सराबोर...तन्मयता का अछोर पथ...दूर-दूर तक एक ही लय...
और फिर किस सुहागिन के साथ रात बिता दी तुमने कान्ह! यह मैं कब पूछती हूं? मैं तो बस इतना जानती हूं कि लाख-लाख युग तो बीत गए परन्तु हृदय में तुम्हारी प्रीति को धारण करने पर भी अभी हृदय में शीतलता नहीं छाई। रस तो रसिक ही जानते हैं। अनुभव को क्या कोई देख सकता है?

विद्यापति कहता है, लाखों में भी हृदय को शीतल करने वाला एक नहीं मिलता।

गीत थम जाता है, धीरे-धीरे उतर कर।

रानी विभोर बैठी रहती है...

आँखें कैसी खुली रह गई हैं...जाने कैसा अमृत भर गया है इन आँखों में!

और यों आनन्द की कली सिरजती, है, आनन्द ही फूल बनता है, उसी के पराग में, उसी में सुरभि है, जो उसी के पवन पर हिण्डोलित होकर, उसी के अंतराल में व्याप्त हो जाया करती है।

किन्तु सब कुछ आनन्द नहीं है।

वृद्ध महामन्त्री द्वार पर पूछता है, "महाराज हैं भीतर?"

"हैं, प्रभु!"

"व्यस्त हैं?"

"आपके लिए कभी नहीं, ऐसा वचन है।"

प्रसन्न होकर भी वे चिंतित ही हैं। ड्योढ़ी पार करके दूसरी ड्योढ़ी पार करते हैं।

"महाराज!!"

"आइए मंत्रिश्रेष्ठ!"

वृद्ध बैठते नहीं।

"बैठें ब्राह्मण देवता।"

"देव! जिस दिन इस भूमि में ब्राह्मण बैठ जाएगा, उस दिन फिर खड़ा कौन रहेगा?"

"क्यों, क्या हुआ?"

"दिल्ली के सुल्तान ने मिथिला की ओर आँख उठाई है। धराशायी बंगाल को रौंदकर वह फिर दोनों ओर से मिथिला को भस्म कर देना चाहता है। और आप महाकवि विद्यापति ठाकुर के प्रेम-रस में डूब रहे हैं।"

"महामंत्री!" भीतर के प्रकोष्ठ के द्वार से तीखा स्वर सुनाई देता है।

"कौन?" महाराज देखते हैं।

महारानी!

महारानी हंसकर बढ़ती है और कहती है, "तो मंत्रिश्रेष्ठ भयभीत हो गए हैं। मेरे स्वामी को आप नहीं जानते ब्राह्मण देवता! महाकाल शिव ने जिस प्रकार देवताओं के रक्षक कार्त्तिकेय को जन्म देने के पूर्व आनन्द किया था न, वैसे ही मेरे स्वामी ने भी आनन्द किया है। कवि ठाकुर की पदावली

क्लीव और लोलुप नहीं बनाती मन्त्रिश्रेष्ठ! वह जीवन के आनन्द को भोगने की क्षमता देती है।"

प्रांगण के द्वार पर घोड़ा रुकता है।

घोड़े से उतरता है विद्यापति। हाथ में लंबा खड्‌ग है।

लखिमा की आँखों में वही युगों की तृप्ति अतृप्ति बनकर झलक रही है।

विद्यापति पुकारता है, "शिव के अवतार हैं!"

"हैं, कवि!" रानी कहती हैं।

राजा मुस्कराता है।

"तत्पर हैं न महाराज?" कवि पूछता है।

"तुम चलोगे, कवि?"

"निश्चय!"

"फिर गीत कौन लिखेगा? मैं तो प्रहरी हूं, मुझे जाना है, तुम क्यों?"

"प्रहरी आप हैं, मैं नहीं?"

विदूषक कहता है, "तो सभी प्रहरी हैं। कहीं मैं तो नहीं हूं?"

महाराज कहते हैं, "नहीं विदूषक! पहली खेप पुरुषों की जा रही है।"

सब हंसते हैं।

महाराज कहते हैं, "मन्त्रिश्रेष्ठ! चिंतित क्यों हैं?"

महाराज चलते हैं। भीम गजराज की गति है उनकी! लखिमा देखती है। तृप्त होती हैं आँखें। फिर भर आती हैं। कहती है, "ठहरें महाराज!"

"क्यों देवी!"

"मंगल अर्चना तो कर लूं।"

दासियां दौड़ती हैं।

तब रानी थाल उठाकर रोली को पानी में भिगोकर आरती करके घोल धरती पर गिराती है।

"कहें देवी!" कवि कहता है, "तू मिथिला का, मिथिला तेरी!"

"तुम कहो कविराज!"

"मैं तो युद्धभूमि में भी कहूंगा।"

"चलोगे कवि?" राजा पूछते हैं।

"कौन रोकेगा मुझे?"

"मिथिला।"

"क्यों?"

"मिथिला को गीत चाहिए।"

"वह कौन-सा गीत है, देव! जो मिथिला की स्वतंत्रता से भी बड़ा है?"

"है कवि, है।"

"मैं नहीं जानता देव।"

"इसी से तो तुममें गंध है रहे सुवर्ण।"

"कैसे महाराज!"

"तुम इस समय आवेश में जो हो।"

"क्यों देव!"

'क्योंकि मैं महाराज हूं और देख रहा हूं कि बहुत ही महत्त्वपूर्ण दिखाई देने वाले यह संघर्ष वास्तव में मूल संघर्ष नहीं हैं। मिथिला हार भी सकती है, सिवसिंह मर भी सकता है, किन्तु क्या मिथिला मर जाएगी?"

"क्या कहते हैं महाराज!" वृद्ध मंत्री कहता है, "यह तो कायरता की बात है?"

"कायरता नहीं मंत्रिश्रेष्ठ! सत्य है! जो कायर हैं वे मृत्यु के भय से सदैव सुनहला देखकर अपने को छलने का प्रयत्न करते हैं। जो जानता है कि युद्ध में विनाश भी है, मृत्यु भी, और तब भी वह नहीं डरता, विचलित नहीं होता, वही क्षत्रिय है। एक ओर हाथ में खड्ग लेकर उससे टपकती लहू की बूंदें देखकर मुस्कराना और दूसरी ओर पुष्पमाल लेकर उसकी गंध का आनन्द लेते हुए गीतों में डूबकर जीवन के दोनों पक्षों का आनंद लेना केवल उसी क्षत्रिय का काम है, जो जीवन को देता है औरों के लिए, और जो सुख लेता है लोक को सौंदर्य देने के लिए। यही मैंने किया है महामंत्री। मैंने रस की धारा में स्नान किया है, धन्य हों यह विद्यापति ठाकुर, जिन्होंने मेरे रोम-रोम को तृप्त किया है। मेरे पास कल के लिए कुछ नहीं है, जो है सो आज के लिए, अब के लिए है, और कवि के पास वह है जो आज के लिए भी है, कल के लिए भी। यह न समझें कि कायर विद्यापति की कविता सुनकर सच्चा आनन्द ले सकते हैं। कह नहीं सकता, भाग्य अज्ञात है, जिऊंगा या मरूंगा, किन्तु इस तलवार का पानी और कवि ठाकुर के गीत का हिंडोल कभी धोखा नहीं देगा। मैं ढोंगी नहीं हूं जो लोक-मानस का आनन्द छोड़कर व्यर्थ के बंधनों में बंधा रहता। मिथिला का मैं प्रहरी हूं और अब मुझे विदा दें।"

बाहर तूर्यनिनाद हो रहा है। नरसिंहे बज रहे हैं। नगाड़े की धक-धक-धक-धक भीषण स्वर से हृदयों को आवेश से भरे दे रही है।

महामंत्री कहते हैं, "महाराजाधिराज! दिल्ली सुल्तान फीरोज़ तुगलक की मृत्यु के उपरांत कोई भी समर्थ शासक दिल्ली में नहीं रहा है। अभी-अभी तैमूरलंग भयानक रक्तपात करके इस देश को हत्या और लूट से रंग गया है। गुजरात, मालवा और जौनपुर के मुसलमान शासक स्वतन्त्र हो रहे हैं। जगह-जगह राजपूत राजा सिर उठा रहे हैं। ऐसे समय दिल्ली का निर्वीर्य सुल्तान मिथिला को दबाने आया है। यह तो कुछ नहीं कर सकता। अभी तो दिल्ली अकालों की मार से उठ भी नहीं पाई है। रोज़ सिंहासन पर दिल्ली एक नया शासक देखती है। इकबाल खां और सुल्तान महमूद का साथ बन गया। परन्तु चला नहीं। तब सुल्तान ने जौनपुर के इब्राहीमशाह की भी सहायता मांगी। किन्तु जब काम न चला तो वह कन्नौज में आ गया। और उसके व्यभिचार और अत्याचार से प्रजा त्राहि-त्राहि करने लगी। यह तुर्क बड़ा ही विलासी है। इकबाल को मुल्तान के सूबेदार खिज्र खां ने युद्ध में मार डाला है। यह दुर्बल सुल्तान महमूद ही भाग्य से इस समय दिल्ली का सुल्तान है। और उसी ने अपने घोर विलास की तृष्णा में लूट से अपने असंतुष्ट सिपाहियों को बहलाने के लिए मिथिला की वीरभूमि की ओर ललचाकर देखा है। खिलज़ियों के समय में, जबकि भयानक संकट था, मिथिला केवल कर देकर बच गई थी। उसके उपरांत कोई इसे नहीं दबा पाया। बोलिए। क्या आज्ञा है?"

"युद्ध!" सिवसिंह गरजते हैं।

गरजती है सेना!

महल के झरोखे से लखिमा की आँखों का पानी गिरता है।

सेनाएं सिंहद्वार से बाहर निकल जाती हैं।

रानी एक लंबी सांस छोड़ती है। कहती है, "मालती! जीवन तो असार ही है न?"

"सभी पुरुष कहते हैं देवी..."

"हां, किन्तु कवि में स्त्री भी होती है...तभी वह संकट में, विनाश में, हाहाकार में भी...जीवन के शाश्वत रस को नहीं भूलता और उसे जगाए रखता है...वही तो मेरे कवि ठाकुर करते हैं..."

फिर वह आँखें पोंछती है...

और फिर आँखें मींचकर प्रणाम करती है, सर्वव्यापक को...

कुछ दिन बीत जाते हैं।

विजयी सेनाएं मिथिला में लौट रही हैं। विद्यापति ठाकुर घोड़े पर गा रहे हैं:

महाराज सिवसिंह ने दूरस्थ दुर्गम गढ़ों को केवल अपनी हुंकार और उमंग से ही तोड़ डाला और अति दुर्गम गुप्त गढ़ों को बात की बात में नष्ट कर दिया। महाराज सिवसिंह ने दिल्लीपति सुल्तान की सीमा को पहुंची हुई मर्यादा को भी रणभूमि का दर्शन कराया।

"जय जय..."

"महाराज सिवसिंह की जय..."

"शत्रु-विक्रम...दिल्ली सुल्तान-विजेता महाराज सिवसिंह की जय..."

तुरंगों के गमन का एक स्वर...

भाले ढालों से टकराते हैं...

स्त्रियां गवाक्षों से लवा, फूल फेंकती हैं; रोली, अबीर हवा में फैल रही है...पथ के दोनों ओर किसान, नागरिक, दल के दल लोग खड़े हैं। महाराज ऊंचे हाथी पर हैं, कवि घोड़े पर से गाता है, आज उसका स्वर गंभीर मेघ-गर्जन-सा है...

डंके का कठोर शब्द, चंचल वायु में लहराती पताकाओं से सुसज्जित रणभेरी, कोहल तथा शंखनिनाद से त्रिलोक को कंपित करने वाली वाहिनी के साथ जय-ध्वनियों से समस्त व्याप्त वसुन्धरा और त्रिभुवन एक साथ गुंजायमान हो उठे, जिस प्रकार केतकी पुष्प का सौरभ चारों ओर के मलय को सुरभित बना देता है।

पार्वत्यनद जिस प्रकार प्रचण्ड वेग से बहता है और वायुमण्डल में जिस वेग से गरुड़ उड़ता है, उसी प्रकार सूर्य के समान तपस्वी और प्रतापी महाराज सिवसिंह ने अपनी सेना के साथ यात्रा की है। महाराज सिवसिंह की वाहिनी की प्रचण्ड गति से स्वर्णगिरि सुमेरू कम्पायमान होने लगा, जय-जय-निनाद से समस्त पृथ्वी आक्रांत हो गई, और आकाश भी जयजयकार की प्रतिध्वनि से गूंजने लगा। तुरंगों की हिनहिनाहट और पदातिकों के पदों की चाप से उत्पन्न घोर शब्द को कौन सह सकता है!

शत्रुओं के रुधिर में भीगी हुई तलवारें समरांगण में इस तरह अपनी चंचल छटा छिटकाने लगीं जैसे वर्षा के मेघाडम्बर में दमकती विद्युत्छटा अपना तीव्र प्रकाश दिखाकर छिप जाती है। भीषण रणभूमि में उन्नद्ध योद्धाओं की गर्जना मेघों के तुमुल गर्जन और कठोर कड़क की भांति सुनाई देती थी। असंख्य तुरंगों की भारी टापों से धरित्री चूर-चूर हो गई और

चारों दिशाएं और दिग्कोण धूलि से आच्छादित हो गए। भयंकर बाणों की धारासार वृष्टि से व्योम आपूरित हो गया और शत्रु के शोणित से वसुंधरा इस प्रकार भीग-भीग गई जैसे आषाढ़ की घनघोर वर्षा से उपप्लावन हो जाता है। संग्राम-भूमि में रुण्ड और मुण्ड नाचते फिरते थे और श्रृंगाल प्रसन्न हो-होकर चिल्ला रहे थे। चारों ओर एक भयानक शब्द सुनाई देता था। भूत और प्रेत रक्त, मांस और मेद से तृप्त होकर वीभत्स आनंद से कूदने लगे। बैताल भूत-पिशाच जी-भरकर शोणित पीकर उन्मत्त-से धूधड़ाम करते नाचते-कूदते गिरने लगे। महाराज सिवसिंह की सेना ने अरियों को खंड-खंड करके नष्ट कर दिया और समस्त रणभूमि को शत्रुओं के रुण्ड-मुण्डों से ढंककर अलंकृत कर दिया। उनका दैदीप्यमान कलेवर पूर्णिमा के चंद्रमा की भांति प्रकाशवान और केतकी पुष्प की भांति सुगंधित हो उठा। अभिनव जयदेव सुकवि विद्यापति कहता है कि महाराज सिवसिंह ने अपने सुकृत और सुन्दर प्रबन्ध से राजा राम की भांति फिर इस संसार में धर्म की प्रतिष्ठापना की है और अपने अतुलनीय दानों से दधीचि की अमर कीर्त्ति को गौरवान्वित किया है। नरों के इन्द्र महाराज देवसिंह के प्रिय पुत्र महाराज सिवसिंह पुरुषसिंह हैं, वे समस्त गुणों की खान हैं, और शत्रुओं का समूल विध्वंस करने वाले हैं। केरी की भांति एकच्छत्र राज्य करने वाले महाराज सिवसिंह स्वयं समस्त कलाओं के निधान हैं।

जय...जय...

दिल्ली-सुल्तान-विजेता महाविक्रम महायोद्धा की जय...

मिथिला-मुकुट चूड़ामणि महाराज सिवसिंह की जय...

पुरुष-पराक्रम महातेजस्वी सकलगुण-निधान दिगंत-व्याघ्र महाराज सिवसिंह की जय...

अब नगाड़े बजते हैं...धकधक...धकधक..ललनाएं शंख फूंकती हैं...

गवाक्ष से महारानी गलहार फेंकती है। पुष्पमाल जाकर महाराज के गले में गिरता है।

तुमुल निनाद होता है...जय...जय...

और तब एक फूल गिरता है, विद्यापति के ऊपर, कवि उठाकर सिर पर चढ़ाता है और सेना निकल जाती है...

जयजयकार गूंजता रहता है, गूंजता रहता है...

जय...जय...पराक्रम की जय...

युद्ध समाप्त हो गया है। महारानी प्रसन्न रहती हैं। कई दिन व्यतीत हो गए हैं। कवि बिसपी गया है।

लौटते ही सेवक कहता है, "प्रभु!"

"क्या है, मधाई?"

"महाराज के यहां से घुड़सवार आया था।"

"क्या संवाद ले आया?"

"महाराज अस्वस्थ हैं।"

"कब से?"

"तीन दिन हुए।"

"मुझे आज सूचना दी?"

"कहते थे, पता चला था, कवि ठाकुर यहां नहीं हैं। आज पुछवाया था कब आ रहे हैं? मैंने कहलवाया आज ही। बोला वह: महाराज ने स्मरण किया है।"

"तो रथ तैयार खड़ा है न? कह दे खोले नहीं।"

"प्रभु, तनिक विश्राम कर लेते?"

"महाराज की अस्वस्थता जानकर विश्राम करूं?"

सेवक चला जाता है।

प्रासाद के विशाल अलिंद के सामने रथ रुकता है। कवि उतरता है।

विशाल प्रकोष्ठ में महाराज सुवर्ण के पलंग पर लेटे हैं। बड़े-बड़े पंखे लिए दो सेवक खड़े हैं।

कवि कहता है, "अभिवादन करता हूं महाराज!"

"कौन? कवि ठाकुर!"

"हां, महाराज! इस दीन को इतना अकिंचन समझा कि स्मरण तक नहीं किया?"

पर्दा हटता है।

महारानी आती हैं।

पलकें कुछ भारी हैं।

"कवि ठाकुर, प्रणाम!"

"अखंड सौभाग्यवती रहें महारानी!"

"तुम्हारी जिह्वा पर सदैव सरस्वती जीवित रहे।"

"मुझे बुलाया तक नहीं।"

"हां, मैंने महाराज से कहा था।" महारानी कहती हैं।

द्वार पर सेवक आकर कहता है, "देव! छोटे महाराज पधारे हैं।"

"कौन पद्म बुला ले।"

पद्मसिंह आते हैं। बैठते हैं। यथोचित वार्त्तालाप होता है।

सिवसिंह कहते हैं, "कवि ठाकुर! मेरे बाद मिथिला के सिंहासन के उत्तराधिकारी पद्मसिंह ठीक रहेंगे न?"

पद्मसिंह कहते हैं, "कवि कहते हैं भैया! यह कैसा अपशकुन है!"

लखिमा की आँखों में पानी भर आता है।

वह देखती है।

कवि पत्थर की मूर्ति-सा लगता है।

कठोर! स्तब्ध! अपलक!

क्या हुआ?

"कवि ठाकुर!" महाराज कहते हैं।

वह नहीं बोलता, जैसे सुन नहीं रहा है।

"कवि ठाकुर!"

"ओह! ऐं? हां!"

"विद्यापति ठाकुर!"

"कौन? महाराज!"

"क्या हो गया तुम्हें?"

"कुछ नहीं, कुछ नहीं।"

"परन्तु तुम यों कैसे बोलते हो?"

"क्या कहा था आपने अभी, क्या कहा था..."

"कब?"

"कुछ देर हुए..."

"तुम्हीं कहो न?"

"वही कि मेरे बाद..."

"हां, ठीक नहीं लगा?"

"तो क्या...तो क्या..."

"क्या बात है। कहो न?"

"नहीं...नहीं...एक दिन...एक दिन..."

"कवि ठाकुर..."

"हां, महाराज! एक दिन सब ही को जाना पड़ता है, आज नहीं कल...कल नहीं परसों...और मैं तो भूल ही गया था...जाना ही

होगा...महाराज को भी...मुझे भी, एक दिन सब ही चले जाएंगे! फिर मैं क्यों भूल गया इस सत्य को! महाराज मुझे तो ऐसी भूल पड़ गई थी कि मैं इस आनन्द को शाश्वत समझने लगा था। वाह रे कवि ठाकुर! तुझ-सा भी कोई मूर्ख होगा इस लोक में! लखिमा देई!" "कवि ठाकुर!" वह रो देना चाहती है।

"सब जाएंगे न? फिर मैं क्यों प्रीति करूं? प्रीति से तो अंत में हृदय विदीर्ण ही होगा न?"

महाराज कहते हैं, "तुम ही ने तो गाया था कवि ठाकुर उस दिन-

अनुखन माधव माधव सुमरत
सुन्दरि भेलि मधाई
ओ निज भाव सुभावहि बिसरल
अपने गुन लुबुधाई।
माधव अपरुब तोहर सिनेह!
अपने विरह अपन तनु जरजर
जिबइत भेलि संदेह।
भोरहि सहचरि कातर दिठि हेरि
छल-छल लोचन पानि,
अनुखन राधा राधा रटइत
आधा आधा बानि
राधा सयं जब पुनतहि माधव
माधव सयं जब राधा
दारुन प्रेम तबहि नहिं टूटत
बाढ़त विरहक बाधा।
दुहु दिसि दारु-दहन जैसे दगधई
आकुल कीट परान
ऐसन बल्लभ हेरि सुधामुखि
कवि विद्यापति भान।"[1]

धीरे-धीरे सुनाते-सुनाते महाराज की आँखें कुछ मुंद जाती हैं मानो वे ध्यान में लीन हो गए हों।

राजवैद्य आते हैं। वे धीरे से नाड़ी पकड़ते हैं, फिर ऐसे चौंक उठता है जैसे बिच्छू ने डंक मार दिया हो।

"महाराज!" उनका विकृत और आतंकित स्वर गूंज उठता है। पद्मसिंह चिल्ला उठे हैं-"वैद्यराज!"

वैद्यराज हताश-से खड़े हो जाते हैं मानो सब कुछ लुट गया हो। लखिमा फूट-फूटकर रोती है। पद्मसिंह अपने माथे पर बार-बार हाथ का आघात करते हैं। चारों ओर स्त्रियां हाय-हाय की करुण ध्वनियां करती रो रही हैं। ऐसा दारुण क्रन्दन हो रहा है कि सारा प्रासाद मानो अब पिघलकर पानी होकर बह जाएगा।

किन्तु कवि स्तब्ध बैठा है।

"कवि ठाकुर!!" रोते हुए पद्मसिंह कहते हैं।

"शान्त रहें छोटे महाराज! देखिए न? महादेव लौट गए। शिव अवतार लेकर आए थे अब कैलास लौट गए हैं। कितने शान्त हैं। अचानक कैसा मादक यौवन है, किन्तु परमयोगी की भांति निर्मम! कोई बंधन नहीं। वे तो पशुपति हैं, अपनी ही लीला से जो पाश धारण किए थे, उन्हें तोड़ देने में क्या देवाधिदेव को कुछ भय लगा? नहीं। देखिए न? वे युगांत की समाधि में प्रलयों को अपने भीतर लीन कर गए हैं। विदग्ध काम अनङ्ग बनकर उनके चरणों पर मानो सो गया है। कैसी सम्मोहिनी मुस्कान है इन होंठों पर!"

और कवि देख रहा है।

अपलक...विभोर...अतिन्द्रिय-सी ज्योति मानो उसके शरीर-दीपक में से स्फुरित होने लगी है...

पद्मसिंह कहते हैं, "विचलित राजलक्ष्मी! तू कब स्थिर होगी? दारुणी! वज्र-हृदये! गए महाराज देवसिंह गरुड़ नारायण। आह! ओइनी छोड़कर उन्होंने देवकुली में राजधानी बसाई और आज देवकुली का सूर्य भी अस्त हो गया। यही है पिता के असंख्य तुलादानों का पुण्यफल कि आज महाराज सिवसिंह निस्संतान अपने यौवन में चले गए। यही है वह प्रचण्ड पराक्रम जिसने अभी कुछ दिन हुए दुर्दम दिल्ली सुल्तान की विशाल वाहिनी के पांव उखाड़ दिए थे?"

विद्यापति उठ खड़ा हुआ है। वह कहता है, "ठहरो युवक! महाराज की विरुदावली तो मैं गाऊंगा न?"

लखिमा चिल्लाती है, "कवि ठाकुर! महाराज नहीं रहे। आँखें खोलकर देखिए।"

वह फिर फूट-फूटकर रोने लगती है।

"कौन नहीं रहे?"

"महराज..." मालती कहती है। वह सुबक रही है।

"महाराज नहीं रहे! तो फिर मैं अब अपने प्रेम-गीत सुनाऊंगा किसे?" कवि कुछ विस्मय से पूछता है।

"महाराज मर गए हैं, कवि! महाराज मर गए हैं।" विक्षोभ से पद्मसिंह कवि के कंधे झकझोरकर कहते हैं, "जागो...मैं कहता हूं, जागो..."

"मर गए? महाराज..."

कवि कहता है और फिर शब्द उठता है-

"हाहाहाहा...महाराज चले गए! मेरे मित्र! मेरे सखा चले गए।"

अब कवि कभी इधर कभी उधर देखता है। वह कहता है, "छिः मरे नहीं मूर्खो! सो रहे हैं।"

वह पुकारकर कहता है, "महाराज! मेरा नया गीत नहीं सुनेंगे?"

पद्मसिंह अत्यन्त कातर हो आँखों को हथेलियों से छिपा लेते हैं।

लखिमा कहती है, "कवि! तुम तो सरस्वती के वरद पुत्र हो, पूछो न महाराज से..."

कोई नहीं बोलता।

कवि फटी-फटी आँखों से देखता है...

राजा के होंठों पर मुस्कान छा रही है...

हठात् कवि का कठोर हास्य गूंज उठता है और फिर गूंजता है, "चले गए निर्मम...निर्दयी छोड़ गए..."

चले गए निर्म...म...

निर्द...यी...छोड़...ग...ए...

कवि अब भाग गया है।

भवन के बाहर कई लोग बैठे हैं। कवि प्रकोष्ठ में बन्द है। कहीं वह भाग न जाए।

एक व्यक्ति दीप लेकर जाता है। कवि कहता है, "मित्र! तुम्हारी चिता जल रही है?"

दीप हटा दिया जाता है।

सारी रात यों ही बीतती है।

भोर होती है, आकाश में सुवर्ण जलने लगता है। कवि कहता है, "महाराज! आपकी चिता की लपटें आकाश तक छा गई हैं!"

और मध्याह्न में लोग आकर देखते हैं, कवि थककर सो गया है। वे कुछ नहीं कहते।

कई दिन बीत गए हैं। लखिमादेई कहती है, "मालती!"

"हां, देवी!"

"कितना एकांत है।"

मालती समझती है। अब लखिमादेई महारानी नहीं हैं। पद्मसिंह राजा हैं वे दिल्ली सुल्तान के आधीन हो गए हैं। इस ओर लखिमादेई के प्रासाद में नीरवता रहती है।

लखिमा पूछती है, "मालती?"

"हां, देवी!"

"अभी कब तक जीवित रहना पड़ेगा?"

"जितने दिन भगवान चाहेंगे।"

और वह क्या उत्तर दे। वैसे जीवन में आनन्द है ही क्या जो वह मृत्यु के विचार का प्रतिकार करे।

"कैसा लगता है सब!" महारानी कहती हैं, "सच, विश्वास नहीं होता कि यह वही संसार है। जिसे उस दिन देखा था। वह मानो एक स्वप्न-लोक की बात थी।"

मालती देखती है।

लखिमा की आँखों में एक नवीन चमक भरती जा रही है।

"देवी!"

"क्या है मालती?"

"गाऊं, देवी?"

"कौन-सा गीत?"

"प्रेम भरा कोई।"

"नहीं।"

"क्यों देवी?"

"कवि ठाकुर नहीं गाते न?"

"नहीं देवी!"

"क्यों नहीं गाते मालती?"

"उनके मित्र नहीं रहे हैं न?"

"नहीं मालती! अब उन गीतों को सुनने के योग्य ही कोई नहीं रहा है? वीर ही प्रेम करते हैं और जीवन के ओज में ही उदात्त गौरव भी पलता है। न शिव के अवतार हैं, न अब कवि का श्रृंगार ही जागता है। पराधीन मिथिला में महाकवि क्या आनन्द की हिलोर उठाएंगे?"

"ठीक कहती हैं देवी।"

"किन्तु कवि ठाकुर अमर होंगे मालती! वे बहुत बड़े मानव हैं, वे तो देवता है!"

"हां, देवी! महाराज की मृत्यु ने उन्हें सब कुछ भुला दिया है।"

लखिमा सुनती हैं। कहती हैं, "सब कुछ। याद भी करें तो क्या? मिथिला में अब है ही क्या? किन्तु वे क्या सभा में नहीं आते?"

"महाराज बुलाते हैं कभी, तो आ जाते हैं।"

"कविता नहीं सुनाते?"

"कभी बहुत कहा तो कोई धार्मिक रचना सुनाते हैं। कभी प्रार्थना, कभी नचारी। और कहते हैं घर पर धर्म-ग्रन्थों के बारे में कुछ लिखा करते हैं। अधिक बातें भी नहीं करते।"

"ठीक ही तो है।"

"क्यों देवी?"

"जो पराक्रमी नहीं हैं, वे प्रेम भी क्या करेंगे?" पराजित जीवन को धर्म की रूढ़ियां ही तो सम्बल के रूप में चाहिए। वही तो कवि ठाकुर भी कर रहे हैं। वह रसवती धारा बहाना क्या अब उनके बस में है..."

"क्यों देवी! क्या वे नहीं गा सकते?"

"नहीं मालती, अब वे मुरझा गए हैं...किन्तु मुझे विश्वास है कि यदि वे यहां आएंगे तो अवश्य गाएंगे और अबकी बार उन गीतों में बड़ी करुण वेदना छलक निकलेगी..."

"क्या वे कभी आएंगे देवी?"

"आएंगे मालती! भगवान ने चाहा तो अवश्य आएंगे।"

और फिर उन आँखों में आलोक-सा पुलक उठता है।

अंधकार में अब भी आँखें तैर रही हैं। कहां है कवि! कहां है विद्यापति ठाकुर! क्या अब वह नहीं आएगा। महारानी लखिमा केश खोले विधवा के रूप में खड़ी सामने कृष्ण की मूर्ति को देख रही हैं...

अब मांझियों की पतवारों की छपाक्-दपाक सुनाई दे रही है। वृद्धा सो रही है। युवती भी। बालक सुखनिंदिया सो रहा है। वह अजातशत्रु है, वह महल में भी ऐसा ही सोता, कुटिया में भी ऐसे ही।

अचानक कहीं एक खड़खड़ाहट सुनाई देती है।

सब चौंक उठते हैं।

मैं देखता हूं। अंधकार में कुछ भी नहीं दिखाई देता। आकाश के नक्षत्र अपनी ज्योति के भाले फेंक तो रहे हैं, किन्तु वे बहुत दूर हैं, वे भाले पास नहीं आते, उनकी नोंकें बहुत दूर दिखाई देती हैं, जिनको अंधकार ने ग्रस लिया है। विशाल जलधारा का एक स्तब्ध-सा गहरा-सा निनाद हो रहा है। वायु प्रशान्त है। सामने की ओर के पेड़ों के झुंडों ने अंधकार को बहुत गहरा बना रखा है। वहां घोड़ों के पांवों का पानी में खलभलाना सुनाई पड़ता है। कभी-कभी कवच से खड्ग टकराते हैं।

"तुर्क!" एक मांझी अत्यन्त भय से कहता है।

सबकी नींद टूट जाती है।

"बोलना नहीं।"

"सूरी के राज्य में तो कुछ शांति थी।"

"अब तो मुगल हैं। चारों ओर जिसके जो मन में आता है, वही करता ह। दिल्ली का सुल्तान अभी बहुत सशक्त नहीं।"

"दल के दल लुटेरे घूम रहे हैं।"

"हाय, अब क्या होगा?"

"नाव मंझधार में ले चलो।"

"पर हम उल्टे खे रहे हैं।"

"तो फिर धार में छोड़ दो।"

"कहां पहुंचेंगे फिर?"

"कहीं भी। मरने से तो यही अच्छा है।"

कोई कहता है, "वासुदेव के धाम जाने में भय क्यों!"

"तो क्या मारे जाएं?"

"नारायण ही रक्षक है।"

"ठीक है," एक स्वर और, "लौटकर भी कहां जाएंगे?"

"तो चलो तीर की ओर!"

'स्वयं मौत के मुंह में?"

"जल में ही क्या करोगे?"

"वे तीर मारेंगे!"

"नाव डूब जाएगी।"

"हाय...मेरा बच्चा..."

"तो मर गया रे..."

"दादी! ता बात है..."

एक डगमग, एक छपाक!
"कुछ हो, कुछ न हो।"
"युवती तो गंगा मैया की गोद में चली गई।"
"धन्य है बहन!"
"तेरी जय हो!"
"गंगा मैया!"
"पतित तारिणी!"
"जय हो!"
"जय हो!"
"अब कलंक का डर नहीं।"
"तो चलो किनारे पर!"
"ओ नहीं, ऐसे कोई खा जाएगा।"
"जान से ही तो मारेगा न?"
"मार लेने दो!"
"भगवान बचाएगा..."
"हम अपने पूर्व जन्म के पाप झेल लेंगे..."
"उनसे कोई बचा है क्या..."
"राजा राम नहीं बचे..."
"हाय...मेरा बच्चा..."
"डर मत दादी! कृष्ण को तो बन्दी-गृह में भी कंस नहीं मार सका था..."
"लेकिन मेरा बच्चा..."
"भगवान से बढ़कर इसका रक्षक कौन है..."
"मझधार में खे चलो..."'
"नहीं जा सकते..."
"क्यों?"
"वह देखो!"
छपाक्-छपाक्...
छपक छपक छपछाप...छापछप...
"दोनों तरफ से घेरा डाला गया है।"
"हाय, हाय...लुटेरे हैं..."
एक स्वर आता है, "किनारे चलो, किनारे..."
बड़ा कठोर स्वर है।

एक बड़ा विकराल अट्टहास तीर पर सुनाई देता है।
"हाय रे दैया..."
"दैया रे..."
"चुप रहो...चुप रहो..."
"मरना है तो वीरता से मरेंगे..."
"डरने से तो ये म्लेच्छ बहुत सिर पर चढ़ते हैं..."
"हाय, तुम तो मरने से भी नहीं डरते..."
"दादी...चुप क्यों है...धीरज क्यों नहीं बंधाती..."
"बेटा, रोकर समय न गंवाओ, भगवान को याद करो..."
"तेरा बच्चा, दादी..."
"भगवान ने उसे जन्म दिया है, वही रखेगा..."
"तुझे डर नहीं लगता?"
"डर किसका...सब तो गोपाल का है...मैं तो उसकी शरण में जा रही थी। उसे इतनी उतावली हो गई कि राह में ही लेने आ गया..."
मैं सुनता हूं, मेरे रोंगटे खड़े हो गए हैं...
"मांझी!"
कोई उत्तर नहीं...
"मांझी..."
"मुझसे कहो..."
"यह जवान क्यों नहीं बोलता..."
"डरो मत! मांझी नहीं भागता।"
"मांझी चुप क्यों है?"
"सोच रहा है, तीर पर कैसे छिपे?"
"यहां से तो न भागेगा?"
"नहीं! नदी में तो हम तुर्क को भी डूबने को नहीं छोड़ते। गंगा मैया की आन है। जल में पहले मांझी मरेगा, तब ही यात्री। मांझी अपना धरम नहीं छोड़ सकता।"
"धरम से धरती टिकी है।"
"कितने दिन का तुर्क है?"
"यह धर्म सनातन है।"
"इसके लिए ही भगवान धरती पर उतरे हैं बार-बार।"
"हिरनाकुस गया, रावण गया, कंस गया।"

"ये क्या इनसे भी बड़े हो गए?"
"अरे, काल का धक्का इन्हें भी लगेगा।"
"लगेगा और लगकर रहेगा, पर धरम न मिट जाएगा हमारा?"
"वह क्या मिटेगा! नरकासुर न छीन सका उसे।"
"यह क्या मारेगा हमें।"
"ओ बस देह को मार लेना।"
"मार ले देह को। आत्मा तो अमर रहेगी!"
"देह तो वस्त्र की भांति है। ओढ़ी, छोड़ दी। आत्मा का क्या बिगड़ता है।"
"कुछ नहीं, डरो मत!"
"कौन डरता है। कौन डरता है।"
माधव, गोपाल...
हरे मुरारे...
राधे गोविंद हरि...
राधे गोविंद हरि...
हरि बोल...
हरि बोल...
और अंधेरा अब हल्का लगता है...नाव तीर की ओर बढ़ी जा रही है!
अब कोई नहीं डरता।
मन में दीपक जल रहे हैं।
तीर पर कोलाहल हो रहा है।
नाव किनारे लगती है। तुरंत ही कुछ भीमकाय तुर्क नाव से लोगों को घसीटने लगते हैं। अब हाहाकार मचने लगता है, क्योंकि देह वस्त्र ही सही, परन्तु वस्त्र को बेकायदे खींचने से दर्द होता है। यह मनुष्य की देह साधारण वस्त्र नहीं, इसका सीधे आत्मा से सम्बन्ध है। आत्मा भी इसमें तभी तक रहती है जब तक इस वस्त्र के ताने-बाने ठीक जुड़े रहते हैं। पता नहीं, ऐसा क्यों होता है!
'ओ बुढ़िया तू है...
"कोई जवान भी है..."
"होती तो तुम्हारे लिए क्या वह छूटी रहती..."
"हा...हा...हा..."
फिर एक झकझोर...

"अरे, अरे बच्चा है..."
"एक के दो हो गए बेटे! इसे बो दे, चार निकलेंगे..."
"सच," मैंने कहा, "चार नहीं, चार सौ..."
"सच!"
पांव मेरा कटकर झूलने लगा। तलवार का भरपूर हाथ था।
मैं रोता नहीं। हंसता हूं।
"हंसता है ये?"
"काफिर!"
"आदमी गज़ब का है।"
"अलग ठेल दो, फिर देखेंगे..."
"सरदार, माल ज्यादा नहीं..."
"तो जाने दो..."
"कितने मरे..."
"पता नहीं..."
"सुबह देखा जाएगा।"
"सुबह तक तो गीदड़ बराबर कर लेंगे।"
"घास हैं घास।"
"दीन की तलवार है, सरदार!"
"सबाब है..."
हाहाहा...
और फिर एक रुदन।
अब दो मेरी ओर।
मैं पड़ा हूं।
"पांव कट गया।"
"तेरा मेरा वार था वह।"
"परसों का तुम्हारा हाथ याद है। सीधे पड़ा था। सिर को बीच में से बांट दिया था खड़ा।"
"क्या जाने ऐसे कट जाते हैं, इनमें दम नहीं।"
"खोपड़ी में भूसा होता है।"
"हाहाहाहा..."
"लेकिन बगावत इनके लहू में है..."
"सारे किसान..."

"लगान दो, तो जंगल भाग गए..."
"एक-एक गांव में आग लगानी पड़ेगी..."
"बड़े सरकश हैं..."
"इनके ठाकुर भले, जो हारे तो मान तो भी जाते हैं..."
"मगर यह छुटके-पुटके जमींदार तो..."
"कसम से जो कहा है मुल्ला अब्दुल कादिर बदायूनी ने..."
"अकबर शाह की ही फतह समझो..."
"तब तो जिहाद कायम रहेगी..."
"कौन जाने..."
"अभी तो बेगमात काफिरों से चिढ़ी रहती हैं..."
"काफिर बुतपरस्त, घिनौने कुत्ते..."
"इनसे जज़िया लेना हमारा हक है..."
"फिर ये मानते क्यों नहीं..."
"हिन्दू बड़ा ज़िद्दी होता है..."
"और जिसमें ये बिरहमन!"
"दोज़ख की मार हो इसपर!"
"लेकिन ये जो मुसलमान हुए हैं देसी कुत्ते! उनकी जुर्रत देखो कि हमारा मुकाबला करने चले हैं?"
"अजी, अपने को बराबर समझते हैं!"
फिर आपस में कुछ तुर्की में बातचीत हुई, जो मैं समझ नहीं सका।
मैं पड़ा हूं। पांव से खून बहुत बह गया है। कंधे की धोती मैंने बांध ली है। छूने से पता चलता है कि सब भीग गई है।
एक तुर्क आ रहा है, उसके हाथ में मशाल है। फरफराती ज्योति निकट आती है। अब मैं देखता हूं। मेरे पास रामते मांझी का सिर पड़ा है। सिर! केवल सिर, गर्दन से टपक रहा है लहू! और उसके दांत हंसते हुए-से चमक रहे हैं। उसकी आँखें खुली हुई हैं। वह जैसे-मुझे अब भी देख रहा है, एकटक। शायद मौत के बाद भी वह मेरा साहस परख रहा है। तो क्या मैं हार जाऊंगा? परन्तु हारने को अब है ही क्या। मेरा पांव तो कट गया है। मैं जा भी कहां सकता हूं। मेरा सिर चकरा रहा है। मुझे स्वयं आश्चर्य हो रहा है कि मैं अभी तक मूर्च्छित क्यों नहीं हो गया हूं। क्या मैं नहीं मरूंगा?
हां, मुझे तो अभी काम है। क्या काम है मुझे? वाह! मुझे वैष्णव की वृद्ध आँखें बुला रही हैं। मुझे तो लखिमा की आँखें आगे ले जा रही हैं। मैं तो

गोपाल का सेवक हूं। भक्ति की धारा की बूंद हूं। अभी तो मुझे विद्यापति ठाकुर की पदावली पहुंचानी है। उसको पहुंचाने के पहले क्या मैं मर जाऊंगा? महाकवि की काव्य-मंदाकिनी मेरे देश का गौरव है।

इसी सिलसिले में मैंने कांख में दबे ग्रंथ को टटोला है।

मशाल के प्रकाश में इस बात को एक तुर्क ने शायद देख लिया।

उसने कहा, "इसके पास कुछ है..."

"क्या है..."

"देखो..."

"निकाल काफिर..."

मैं कह रहा हूं, "नहीं मेरे पास कुछ नहीं है..."

"तो फिर क्या छिपा रहा है..."

"वह सोना नहीं, चांदी नहीं..."

"तो क्या है आखिर..."

"वह तो एक किताब है..."

"देखें कैसी किताब है..."

"गीतों की है..."

"कैसे गीत हैं इसमें...शायरी है..."

"पता नहीं...इसमें भक्ति के गीत हैं..."

"भक्ति क्या..."

"क्या यार वक्त बरबाद कर रहे हो! होगी कोई काफिरों की जहालत!"

"नहीं नहीं..." मैं कह रहा हूं, "प्रेम के गीत हैं..."

'मुहब्बत के..."

"तो ला, मैं याद कर लूं कुछ, काफिरों की छोकरियों को फंसाने के काम आएंगे..."

"हाहाहाहा..."

"खूब कहा यार..."

"क्यों, ठीक है न?"

"और काफिरों की लौंडियों को काम ही क्या है?"

"हाय, कोई-कोई तो..."

"वाह..."

"वाह वाह..."

"हाहाहाहा..."

"हाहाहाहा..."
"लेकिन कमबख्त यों ही मरती हैं...।"
"और अपने-आप..."
"निकाल बे! देखें, कैसी किताब है..."
"नहीं, नहीं दूंगा..."
"अबे लंगड़े..."
"नहीं, नहीं, छूना नहीं..."
"अच्छा! तू इतना पाक है..."
"छीन ले इससे..."
"दे एक लात..."
"हाय गोविंद...
माधव!!
हरे मुरारे...
जनार्दन...
वासुदेव..."
"किसे आवाज़ दे रहा है..."
"इसके देओता हैं सब..."
"कोई है मौके पर बचाने वाला..."
"कोई नहीं..."
"अच्छा, यह है किताब..."
"यार, यह पत्तों की किताब..."
"फेंक इसे..."
"नहीं..."
"लाहौल बिलाकूवत! क्या करना है इसका!"
"कसम से यार बख्तियार खिलजी गाज़ी था। उसने, कहते हैं, काफिरों की सबसे ज्यादा किताबें जलाई थीं।"
"इसे मुझे दे दो...इसे मुझे दे दो...मैं कह रहा हूं..."
"क्या करेगा लंगड़े, अब तू यहीं मर जाएगा..."
"मैं क्या कह सकता हूं। किन्तु मुझे लग रहा है उस किताब में मेरे प्राण हैं।"
तुर्क किताब की गांठ तोड़ देता है।
फिर चुरमुर करके पत्ते तोड़कर पांवों के नीचे कुचल देता है...

मैं नहीं देख पाता...

मैं मूर्च्छित हो जाता हूं...

कितना विस्फारित-सा गहन अंधकार में ग्रस्त एक विस्तृत आकाश है और निविड़ की सांय-सांय सुनाई दे रही है। दिगंत की व्यापकता में एक ही निस्तब्धता छा रही थी। कोई पीड़ा नहीं, केवल अस्तित्व। अस्तित्व में न संवेदना, न प्रतिकार। केवल सत्ता। चारों ओर निरावलंब अंधकार! तारे नहीं, आविर्भूत-सी तरलता का एक आच्छादन। और कुछ नहीं। न घोड़ों की रूंद न किसी घायल का चीत्कार, न गीदड़ों की हुमक।

मैं फिर सो रहा हूं।

कब तक सोता रहा, पता नहीं।

जब देखा तो पौ फट रही है। तीर पर एक जोगी आ रहा है।

"पानी..."

"पानी...पा...नी..."

जोगी ठिठकता है।

"कौन है वहां?"

"पा...नी..."

जोगी पास आता है।

"इतने घायल! खून-खराबा!"

"पा..."

जोगी खप्पर में पानी लाता है...बूंद-बूंदकर पीता हूं मैं अधखुले नेत्रों से देखता हुआ।

पीकर फिर लेटा रह जाता हूं...

पांव कट गया है...

आह...

बड़ा दर्द है!

आह...

जोगी चला जाता है। कुछ देर में बहुत-सी जड़ी-बूटियां लेकर लौटता है। फिर वह मेरे पांव को खोलता है और उन जड़ियों को हथेलियों पर मसल-मसलकर निचोड़ने लगता है। जलन के मारे मैं फिर चीखकर मूर्च्छित हो जाता हूं...

जब आँख खुलती है, देखता हूं जोगी मुस्करा रहा है।

"अब कैसी है तबियत..."

मैं बोलना चाहता हूं, लेकिन हलक सूख गया है।

वह फिर पानी गले में डालता है, लगता है अमृत मेरे भीतर उतर रहा है। मैं पीता जाता हूं।

"बस, बस...अब फिर और थोड़ी देर बाद।"

मैं पड़ा रहता हूं...

जोगी फिर चला जाता है।

जंगल में से कुछ नई बूटियां तोड़ लाता है और धीरे-धीरे उनका रस मेरे होंठों में निचोड़ता है। हरियांध आ रही है...कच्चांध...मुझे अच्छा नहीं लगता...किन्तु जोगी के हाथ बड़े कठोर हैं। उसके सिर पर जटाएं बंधी हैं। माथे पर भस्म लगी है। कटि पर मृगचर्म बंधा है।

"अच्छा है?"

"हूं।"

"किसने किया यह?"

"तुर्कों ने।"

"तुर्कों ने!"

"हां!"

"अकबर शाह तो ऐलान करता है कि हिन्दुओं पर अत्याचार मत करो।"

जोगी के होंठ फड़कते हैं।

वह फिर कहता है, "चल सकेगा बच्चा?"

"कहां?"

"मेरे साथ!"

"मैं असमर्थ हूं।"

"ठाकुर तक। ठाकुर ने अकबर शाह की दासता स्वीकार की है।"

मैं नहीं उठ सकता।

"मेरी आत्मा तो मर चुकी है। अब कहीं जाकर भी क्या करूंगा?"

तभी घोड़ों की टापों के बजने का स्वर आता है। मैं चौंकता हूं।

एक नंगा साधु घोड़े की पीठ पर सवार आ रहा है। वह निकट आकर घोड़ा रोककर देखता है और कहता है, "कौन हो तुम लोग?"

उसके हाथ में त्रिशूल है, बगल में खड्ग।

"मैं जोगी हूं। यह कोई घायल यात्री है।"

"इसे किसने मारा। डाकुओं ने?"

"नहीं, तुर्कों ने!"

"तुर्कों ने!"

साधु शंख फूंकता है। फिर ज़ोर की आवाज़ आने लगती है, जैसे कई घोड़े दौड़ रहे हों। मेरे देखते ही, न हो तो कम से कम पांच हज़ार नागा बाबाओं की घोड़ों पर चढ़ी सेना आ पहुंची है। उनके हाथों में त्रिशूल है। और शरीरों पर भस्म लगी है। वे नंगे बदन हैं, नितांत नंगे। दाढ़ियां। सिर पर जटाएं। ऊंचे-ऊंचे पुष्ट तुरंग। और साधु भी दृढ़ांग। चारों ओर धूलि छा गई है।

एक साधु बढ़कर कहता है, "क्या है भैरवानन्द!"

"तुर्कों ने यहां हिन्दुओं को मारा है।"

"अकबर शाह की घोषणा झूठी है।"

"सब एक हैं, जैसे तुर्के, वैसे मुगल।"

"लूट में सब बराबर!"

एक और कहता है, "फिर लौटना उचित नहीं।"

"बिल्कुल नहीं।" भीड़ चिल्लाती है।

"खिलज़ी के समय में जोगियों ने टक्कर ली थी। और उसके बाद हमने ली है।"

तब मुझे पता चला। वे नागा थे, जो कुम्भ का पर्व पड़ने पर तीर्थ-स्नान करने वाली प्रजा की रक्षा करने को जाया करते थे। वे अपने प्राणों की बाज़ी लगा देते थे। और इसीलिए उनको प्रजा भोजन देती थी। वे प्रयाग जा रहे थे। दल के दल साधु आते थे और न जाने कब से सशस्त्र युद्ध के लिए तत्पर रहते थे और प्रजा को बचाया करते थे, क्योंकि ऐसे दिनों में तुर्कों की डाकेज़नी बढ़ जाया करती थी। बाबा लोग लड़ते थे, मरते थे...और मैं समझ नहीं पाया हूं कि प्रजा किस प्रकार निरंतर मरती-कटती भी अपनी परम्परा को निभाती चली आ रही है...मानो केवल इसीलिए कि आततायी इससे जलता है, और इसीलिए मानो अपना विद्रोह प्रकट करने को वह निरंतर टक्कर लेने आती है...

"यात्री! तुम कौन हो?"

"ब्राह्मण हूं।"

जोगी कहता है, "गोरखनाथ तुम्हारी रक्षा करें। प्रजा की रक्षा करने जाओ। ब्राह्मण को मैं संभाल लूंगा।"

हमारे देखते-देखते वह सारी घुड़सवार सेना लौट जाती है और फिर उनके पीछे उठती धूलि भी शान्त हो जाती है।

मैं जोगियों से मिल चुका हूं। वे वेद को नहीं मानते। वे ब्राह्मण को सर्वोच्च नहीं मानते। किन्तु वे इस विध्वंस को अच्छा नहीं गिनते। तुर्कों को अभी तक जोगियों और हिन्दुओं का भेद पता नहीं है।

मैंने कुहनियों के बल उठने की चेष्टा की।

जोगी ने सहारा देकर मुझे बिठाया और एक पेड़ के सहारे टिका दिया।

"चल सकोगे?"

"एक हाथ में डंडा दे दो, एक से मुझे सहारा दो। थोड़ा चलने का यत्न करूंगा।"

जोगी ने मुझे कंधे पर उठा लिया है और सामने के गांव ले गया है। लेकिन गांव खाली पड़ा है। "सारे किसान भाग गए हैं क्योंकि लगानों की मार ने उन्हें खोखला कर दिया है। एक बार सूरी के सिपाही लगान वसूल करके ले जा चुके हैं, फिर मुगलों के सिपाही ले जा चुके हैं, अब सूरी के सिपाही दण्ड देने आए हैं कि तुमने सूरी-प्रजा होकर मुगलों को कर क्यों दिया...इसी का दण्ड है।" गांव के एक खण्डहर में से एक वृद्ध निकलकर कह रहा है। वह छिपकर बचा रहा है।

मैं वहीं टिक जाता हूं। वृद्ध मुझे लाकर एक रोटी देता है। मैं कुछ नहीं पूछता...चुपचाप खाने लगता हूं...

जोगी शून्य दृष्टि से देख रहा है।

वृद्ध कहता है, "योगिराज! क्या इसी पृथ्वी पर एक दिन महायोगी मत्स्येंद्रनाथ और गोरखनाथ जैसे व्यक्ति थे..."

जोगी कुछ नहीं कहता।

वृद्ध कहता है, "अस्सी बरस का बूढ़ा हूं। मेरे सामने ही कितनी बार विध्वंस नहीं हुआ।"

और मैं सहारा लेकर बैठकर गाता हूं...

बेरि बेरि अरे सिव यों तोय बोलों
फिरसि करिअ मन माय।
बिनसंक रहह भीख मांगिए पए
गृन गौरव पुर जाए!

जोगी और वृद्ध दोनों बैठ जाते हैं। वे भी चाहते हैं मेरी बारंबार प्रार्थना से शिव मेरी ओर ही नहीं, सबकी ओर कृपादृष्टि फेरें...मेरा क्या है मैं तो निःशंक रहकर भीख मांग सकता हूं, किन्तु तुम्हारे गुण-गौरव का तो लोप हो जाएगा...

और मैं गाता रहता हूं...वे सुनते रहते हैं...फिर न जाने कहां से चींटियों की तरह रेंगते हुए अनेक स्त्री-पुरुष जंगल में से निकलते चले आते हैं और फिर वे घोड़ों की टापों से रुंदी हुई धरती को देखते हुए समीप आते चले जाते हैं और फिर, फिर सब गाने लगते हैं...

बेरि बेरि अरे सिव...
बेरि बेरि यानी बारम्बार यानी अविनश्वर...
...जो कभी न मरेंगे...न समाप्त ही होंगे...अक्षय और अमर..

---

1. केश समूह अन्धकार की भांति है, और मुख पूर्णिमा के चन्द्रमा की भांति है।
1. नेत्र कमल के समान हैं। कौन विश्वास करेगा कि अँधेरा, चन्द्रमा और कमल एक ही स्थान पर इकट्ठे हो गये हैं।
2. आज मैंने ऐसी बाला देखी। काम हिल उठा, मन लुब्ध हो गया, अब मैं क्या करूँ?
1. सहज सुन्दर गोरे तन की बाला है, पयोधरों की श्री सघन हैं, मानो उल्टी कनक लता में जैसे नारियल के दो फल लगे हों।
1. जतहि प्रेम-रस ततहि दुरंत
पुन कर पलटि पिरित गुनमेत।
सबतहु सुनिय अइसन बेवहार
पुनु टूटय पुनु गांथिऐ हार।
1. हे सखी, कान्ह से कहो, मुझसे कपट न करें, मेरा अपराध क्या है? न तो मैंने तुम्हारी आज्ञा मानने में कभी चूक की है, न कभी दुर्वचन ही कहे हैं। हे स्वामी, मेरे साथ प्रेम को उसी प्रकार निबाहिए जिस प्रकार चंद्रमा कुमुदिनी के निकट रहकर उसे अपने प्रेम द्वारा अनुरंजित करता है।
1. इस समय भ्रमर उमंग में आकर इठलाता हुआ सुन्दर पुष्पों के मधु का पान कर रहा है। हे सखी! सभी अपने-अपने प्रियतमों को तृप्त कर रही हैं, तुम्हारे पति ही हैं जो रस से वंचित और भूखे हैं।
1. बालचन्द्रमा और विद्यापति की भाषा, इन दोनों को दुर्जनों के हास्य नहीं लगते।
1. हे सखी, जिस समय मेरे रसिया मेरे आंगन में आएंगे मैं उन्हें देख मंद-मंद हंसती हुई पलटकर चलूंगी। मैं रसीली बड़ी चतुरा हूं। कितनी-कितनी युक्ति से मान मनवाऊंगी। जब आवेश में वे मेरा आंचल पकड़ेंगे, भले ही वे कितना भी यत्न कर लें, मैं पास न जाऊंगी। जब वे हठ करके मेरी चोली पकड़ेंगे तब हाथ पकड़कर कठोर दृष्टि से देखूंगी। वे जब रतिक्रीड़ा चाहेंगे तब मैं मुंह मोड़ मन ही मन हंसकर भी 'नहीं', 'नहीं' ही कहूंगी। किन्तु भ्रमर तो स्वभाव से ही फूलों का मकरन्द पीता है, वैसे ही मेरे मुख-कमल के रस को वे भी सहज ही पिएंगे। उस समय तो वे मेरे सकल ज्ञान को हर लेंगे। विद्यापति कहता है कि हे बाले, तेरा ऐसा विचार सचमुच अनुपम और धन्य है।

1. प्रत्येक क्षण तुम्हें याद करते-करते हे माधव! राधा अपने को ही माधव समझने लगी है। वह अपने भाव-स्वभाव भूलकर अपने ही गुणों पर अपने को माधव समझकर मुग्ध हो गई है। हे माधव! तुम्हारे प्रति उसका अपूर्व स्नेह है। अपने को माधव जान वह अपने ही विरह में क्षीण होती जा रही है। उसका शरीर इतना जर्जर हो गया है कि उसके जीवित रहने में संदेह लगता है। भोर ही से उसकी यह दशा देख सखियों के लोचन छलछला आए। किन्तु राधा तो अब "राधा राधा' ही रटती है। कभी चेत होने पर वह राधा बन जाती है, कभी माधव हो जाती है। उसकी विरह पीड़ा में तो कभी बाधा नहीं पड़ती। कितनी दारुण है उसकी वेदना!

यह दारुण दहन दोनों ही अवस्थाओं में उसका दहन किए दे रहा है। वह तो मानो दोनों ओर से जलती लकड़ी के बीच बैठे हुए एक कीट के समान है! कवि विद्यापति कहता है कि हे माधव! प्राणवल्लभ! चन्द्रमुखी राधा को अपने दर्शन देकर उसकी विरहावस्था का अन्त करो।

-प्रस्तुत पद विद्यापति की अटूट गहराइयों का परिचय देने वाला है।

उपसंहार

यद्यपि मैं ठीक हो गया हूं, किन्तु मेरे पास अब विद्यापति की अमूल्य पदावली नहीं है। केवल वे ही पद मेरे पास हैं जो मुझे याद हो गए थे। मैं समझता हूं कि मैंने असफलता पाकर भी असफलता नहीं पाई है। कौन जाने वृद्ध वैष्णव मर चुका होगा। उसकी आँखें भी चिता की लपटों में जल चुकी होंगी। गृहस्वामी भी बिसपी में मर चुके होंगे। उनकी भी आँखें चिता में जल चुकी होंगी। किन्तु ये किसकी आँखें हैं जो अभी तक मेरी ओर देख रही हैं।

लखिमा की आँखें...

किन्तु अब मैं कैसे जा सकता हूं...

अब मैं जर्जर हो गया हूं, अब मेरा एक पांव कट चुका है, मुझमें शक्ति नहीं है। मैं जानता हूं कि प्रेम का संदेश किसी एक कवि की ही एकमात्र सम्पत्ति नहीं है, युग की धारा में अनेक बूंदें होती हैं, किन्तु फिर भी विद्यापति ठाकुर की रचनाएं, काश! मैं वृन्दावन पहुंचा पाता। कौन जाने वे कब पहुंचेंगी! इतिहास बड़ा निर्मम होता है, कौन जाने वह खो ही जाएं! और फिर न जाने अभी भारत के भाग्य में कितने तूफान और शेष हैं!

मेरे माधव! मेरा भारत कभी लुप्त तो नहीं हो जाएगा! इस भारत-भूमि की सन्तान कभी इतनी जघन्य तो नहीं हो जाएगी कि अपनी आत्मा में से विश्वास ही खो बैठे! नहीं, मुझे ऐसा नहीं लगता। आधार वे ही खो देते हैं जो केवल एकमात्र अन्ध-विश्वास में पला करते हैं। जिनके मन में एक व्यापक सत्ता को ग्रहण करने की शक्ति, हर युग बन्धन में भी मौजूद रहती है, वे कभी एकदम नष्ट नहीं हुआ करते, वे तो अपना विकास किया करते हैं। एक आंधी आती है, चली जाती है, आंधियां पत्थर लुढ़का सकती हैं, पर्वतों को नहीं हिला सकतीं, चाहे उनमें कितनी भी प्रचण्ड शक्ति क्यों न हो। गिरियों के भाल आकाश की वन्दना करते हैं, पृथ्वी का गौरव प्रतिध्वनित करते हुए...

मैं कब से कहना चाह रहा हूं, किन्तु कह नहीं पाया, न जाने क्यों ऐसा लगता है कि जो कुछ मैं अपने शब्दों में बांध देना चाहता हूं वास्तव में भावनाओं की बात है...

●●●